विषय अनुक्रमणिका

(A) ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

प्रश्न 1—"रेग्यूलेटिंग एक्ट ने शासन को संगठित करने की बजाय संग्रह के केन्द्रों को संगठित किया।" यह कथन कहाँ तक सत्य है ?

अथवा

कानून विधायन और संहिताकरण के विकास हेतु 1833 एवं 1853 के चार्टर अधिनियमों द्वारा जो मशीनरी स्थापित की गई उसका विवेचनात्मक स्पष्टीकरण कीजिए।

अथवा

1757 से 1854 तक भारतीय शासन में हुए परिवर्तनों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर—वर्तमान की आधारशिला अतीत है। ब्रिटिशकालीन भारत के इतिहास में भारतीय गणराज्य के संविधान के विकास को देखा जा सकता है, जिसका प्रारम्भ 16वीं सदी मे ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना से होता है। एम. वी. पाईली के अनुसार "इसकी कहानी इतिहास की अपेक्षा एक रोमांस अधिक लगती है।" यह कम्पनी एक व्यापारिक संस्था थी परन्तु इसी ने 1757 में प्लासी के संग्राम में नवाब सिराजुद्दौला को हराकर भारत मे ब्रिटिश साम्राज्य की नीव डाली। तत्पश्चात् 1857 की क्रान्ति के परिणामस्वरूप 1858 में 'भारतीय प्रशासन सुधार सबंधी अधिनियम' द्वारा देश की शासन-सत्ता ब्रिटिश सरकार के पास चली गई। इससे पूर्व समय-समय पर पारित होने अधिनियमों ने भारतीय संविधान के विकास में अपूर्व योगदान दिया।

रेग्यूलेटिंग एक्ट

उद्देश्य—ईस्ट इण्डिया कम्पनी की राजनीतिक सत्ता पर अंकुश लगाने के लिए संसद ने 1773 मे उक्त अधिनियम पारित किया। लार्ड नार्थ ने कहा था, "मेरे इस बिल की प्रत्येक धारा का उद्देश्य कम्पनी के प्रशासन को सुदृढ़, व्यस्थित और सुनिश्चित बनाना है।" इस अधिनियम द्वारा निम्न परिवर्तन किये गयें—

1. गवर्नर जनरल की शक्तियों में वृद्धि—बंगाल की प्रेसीडेंसी को बम्बई एवं मद्रास की प्रेसीडेंसी से उच्चतर बताया। बंगाल के गवर्नर को गवर्नर जनरल बना दिया जिसकी मदद के लिये चार सदस्यों की परिषद् बनाई गई। गवर्नर जनरल एवं परिषद् को यह अधिकार दिया कि वह कम्पनी के क्षेत्रों एवं अधीनस्थ

राज्यों की शासन-व्यवस्था के लिए नियम व अध्यादेश जारी करे जो सर्वोच्च न्यायालय से पंजीकृत होने के उपरान्त लागू हों। परन्तु दो वर्ष अन्दर सम्राट् ब्रिटिश सम्राट उन नियमों को रद्द भी कर सकता था।

2. सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना—एक सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना कलकत्ता में की गई जिसको फौजदारी, दीवानी, धार्मिक क्षेत्रों में ब्रिटिश-प्रजा, नाविक एवं कम्पनी के कर्मचारियों पर न्यायिक प्रशासन का पूरा अधिकार दिया। यह भारतीय ब्रिटिश प्रजा के अनुबन्धों से सम्बन्धित मुकद्दमे भी सुन सकता था, यहाँ से सपरिषद् सम्राट को अपीलें भेजी जा सकती थी।

3 वित्तीय मामलों में सुधार—यह प्रावधान रखा गया कि भारत के शासन से सम्बन्धित सारे मामले कम्पनी के संचालकों द्वारा ब्रिटिश वित्त-विभाग के समक्ष रखे जायेंगे तथा सैनिक एवं गैर सैनिक मामले राज्य सचिव के सम्मुख रखे जायेंगे। सपरिषद् गवर्नर जनरल एवं न्यायाधीशों की वेतन-वृद्धि कर रिश्वत एवं भेंट लेने पर रोक लगाई। कम्पनी के कर्मचारियों पर निजी व्यापार करने पर अंकुश लगाया। ब्रिटिश प्रजाजन 12 प्रतिशत से अधिक ब्याज नहीं ले सकते थे।

4. कार्यकाल में परिवर्तन—संचालकों का कार्यकाल एक वर्ष से बढ़ाकर चार वर्ष कर दिया। संचालक-मण्डल के 24 सदस्यों में से 6 को हर साल सेवा निवृत्त करने की व्यवस्था की जो लगातार निर्वाचित नहीं हो सकते थे। निर्वाचन तिथि से 12 महीने पहले जो 1000 पौण्ड के हिस्सेदार थे उन्हें ही मताधिकार दिया गया।

आलोचना—

1. यह एक अस्पष्ट अधिनियम था। 2 यह अनुमान लगाना कठिन था कि वास्तविक शासन-सत्ता सम्राट के पास है या कम्पनी के पास। कम्पनी भी कानूनत. अपने को मुगल-सम्राट की दीवान कहती थी। 3. परिषद् में निर्णय लेने का तरीका गलत था। 4 इस कारण सपरिषद् गवर्नर जनरल के आदेशों का भी कोई महत्व न रहता था। 5 सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना भी अस्पष्ट सी थी। 6. मॉण्टेग्यू एवं चैम्सफोर्ड के अनुसार "यह अधिनियम असामयिक था और इसकी रचना करते समय बंगाल की ही परिस्थितियों को ध्यान में रखा गया था। 7. इसकी वाक्य-रचना भी दोषपूर्ण और अस्पष्ट थी जिसके कारण इसके द्वारा स्थापित की गई शासकीय संस्थाओं में झगड़े होना अनिवार्य थे।"

संशोधक अधिनियम

कारण—रैग्यूलेटिंग ऐक्ट के दोषों को दूर करने के लिये 1781 में संशोधक अधिनियम (Amending Act) पारित किया गया।

परिवर्तन—1. सपरिषद् गवर्नर जनरल के कार्यक्षेत्र से सर्वोच्च न्यायालय से बाहर रखा गया। 2. ऐसा ही भारतीय न्यायालयाधिकारियों के कार्यों के साथ किया

गया । 3. सदर दीवानी अदालत के रूप में मुकद्मो की अपीलें सुनने का अधिकार सपरिषद् गवर्नर जनरल को दिया गया । 4. प्रादेशिक न्यायालय एवं कौंसिलो के बारे मे नियम बनाने के अधिकार भी इन्हे दिये गये । संक्षेप मे सर्वोच्च न्यायालय की शक्ति इसके द्वारा कम की गई ।

पिट्स इण्डिया एक्ट

भूमिका—भारतीय प्रशासन मे सुधार करने के लिए 1784 विलयम पिट की सरकार ने जो अधिनियम पारित किया वह 'पिट्स इण्डिया एक्ट' कहलाया ।

प्रावधान—1 बंगाल के गवर्नर को मद्रास एवं बम्बई के गवर्नरो से उच्च स्थान प्रदान किया गया । 2 कम्पनी के राजनीतिक एवं प्रशासकीय कार्यो हेतु 7 सदस्यीय मण्डल नियुक्त किया गया तथा व्यापारिक कार्यों को कम्पनी के सचालको के पास ही रहने दिया । 3 यद्यपि सबसे पहले दोहरी शासन-प्रणाली की व्यवस्था इसमे की गई परन्तु प्रो० स्पीयर के शब्दो मे "यह शासन-पद्धति क्लाइव द्वारा स्थापित द्वैध शासन-प्रणाली से सर्वथा भिन्न थी क्योकि इसमे दोनो शासकीय संस्थाओं का उत्तरदायित्व निश्चित और स्पष्ट था ।" 4. भारतीय नरेशों के साथ कम्पनी के सम्बन्धो में निर्हस्तक्षेप का यह नया सिद्धान्त था ऐसी एम० वी० पायली की धारणा है ।

चार्टर अधिनियम

भूमिका—ब्रिटिश सरकार ने कम्पनी पर संसदीय नियन्त्रण दृढ़ करने के लिए चार चार्टर अधिनियम 1883, 1813, 1833 एवं 1853 मे पारित किये ।

चार्टर एक्ट 1793—1793 का चार्टर एक्ट गुरुमुख निहालसिंह के अनुसार महत्वपूर्ण न था उल्टे इसके द्वारा नियन्त्रण-मण्डल के सदस्यो को भारतीय कोष से वेतन देने की एक ऐसी प्रथा का प्रारम्भ हुआ जो सन् 1919 तक चलती रही और जिसके परिणामस्वरूप भारत को भारी आर्थिक हानि उठानी पड़ी । इसके द्वारा कम्पनी के व्यावसायिक आधिपत्य को बीस वर्ष की अवधि प्रदान की गई ।

चार्टर एक्ट 1783—1783 में द्वितीय चार्टर एक्ट पारित किया गया । भारतीयो के लिए शिक्षा की व्यवस्था की गई तथा ब्रिटिश प्रजा भारत के साथ व्यापार का अधिकार दिया गया । इससे भारतीय उद्योग-धन्धों को ठेस पहुंची । ईसाई धर्म का प्रचार भी किया गया । कम्पनी को 20 वर्ष के लिए व्यापार का अधिकार दिया गया ।

चार्टर अधिनियम (1833)—1833 में पारित चार्टर एक्ट के द्वारा बंगाल के गवर्नर जनरल को भारत का गवर्नर जनरल बना दिया गया । "सपरिषद् गवर्नर जनरल" को विधि-निर्माण का अधिकार प्रदान किया गया । कम्पनी की सेवाओ के लिए भारतीयों के लिए भी दरवाजे खोले गये । यह केवल सिद्धान्त रूप मे था ।

चार्टर एक्ट 1853—समितियों द्वारा की गई जांच के आधार पर 1853 का चार्टर एक्ट पारित किया गया । संचालको की संख्या इसके द्वारा 24 से ...

18 कर दी गई जिनमें से 7 की नियुक्ति सम्राट द्वारा किये जाने का प्रावधान रखा गया। सिविल सर्विस में भर्ती के लिए प्रतियोगी परीक्षा का विधान रखा जिसका केन्द्र लन्दन था और उसमें भारतीय भी भाग ले सकते थे। इस चार्टर एक्ट के द्वारा "इंगलिश लॉ कमीशन की नियुक्ति की गई जिसने भारतीय न्याय-संहिता और दीवानी तथा फौजदारी कार्यविधियों को संहितावद्ध किया। नियन्त्रण-मण्डल के अध्यक्ष को अधिक महत्ता दी गई। शक्ति पृथक्करण के आधार पर कानून सम्बन्धी कार्य-व्यवस्थापिका सभा को दिये गये। इतना परिष्कृत रूप होने पर भी इसमें कुछ मौलिक कमियाँ थीं।

तदुपरान्त 1854 के अधिनियम द्वारा सपरिषद् गवर्नर जनरल को ब्रिटिश गृह सरकार की सम्पत्ति से चीफ कमिश्नर नियुक्त करने का अधिकार दिया गया।

प्रश्न 2—1858 के भारतीय प्रशासन अधिनियम द्वारा क्या परिवर्तन किये गये थे ?

अथवा

1858 के मुख्य प्रावधानों का विस्तृत विवेचन कीजिये। ये कहाँ तक औपचारिक थे ?

उत्तर— **भारतीय प्रशासन सम्बन्धी अधिनियम**

पृष्ठभूमि—ईस्ट इण्डिया कम्पनी एक व्यापारिक संस्था थी, अतः *सन् 1858 के भारतीय प्रशासन सम्बन्धी अधिनियम द्वारा भारत का शासन ब्रिटिश* सरकार के हाथ में चला गया। इस अधिनियम के पारित होने के कई कारण थे। प्रथम, ब्रिटिश प्रजा एवं सरकार दोनों ही कम्पनी के संचालन से सन्तुष्ट न थे। द्वितीय, *कम्पनी एक अनुत्तरदायी संस्था थी जो कि ब्रिटिश परम्परा एवं कानून के* विरुद्ध था। तृतीय, ब्रिटिश सरकार का रवैया भारतीय शासन-व्यवस्था में परिवर्तन करने के लिए अनुकूल हो गया था और चतुर्थ ब्रिटिश सरकार द्वारा इससे पूर्व पारित *किये गये अधिनियमों में इसका आभास था कि वह शीघ्र ही भारतीय प्रशासन अपने* हाथ में ले लेगी। यद्यपि संचालक सभा (Court of Directors) ने कम्पनी की सिफारिश के लिए एक याचिका भी प्रस्तुत की जो रद्द कर दी गई। लार्ड पामर्स्टन द्वारा रखा गया 'इण्डिया बिल' उनके मंत्रिमण्डल के पतन होने के कारण पारित न हो सका। तत्पश्चात् दोनों दलों द्वारा तैयार किया गया बिल 'भारतीय शासन-सुधार अधिनियम' कहलाया जिसकी मुख्य धारायें निम्नलिखित थीं—

1. शासन-हस्तान्तरण—इस अधिनियम द्वारा भारत का शासन 'ब्रिटिश क्राउन' के पास चला गया। इसके साथ ही कम्पनी की जल, थल सेना पर भी क्राउन का नियन्त्रण हो गया। उनके पद एवं वेतन यथापूर्व रहे।

2. भारत सचिव की शक्ति-वृद्धि—नियंत्रण-मण्डल और संचालक सभा का स्थान भारत सचिव ने ले लिया जो कि ब्रिटिश सरकार के पांच राज्य सचिवों में से

एक होता था और ससद के प्रति उत्तरदायी होता था परन्तु वेतन भारतीय राजस्व से देना निश्चित हुआ। वह भारतीय शासन का निरीक्षण, निर्देशन व नियन्त्रण करता था।

3. भारत-परिषद् की रचना—भारत-सचिव की सहायतार्थ एक 15 सदस्यीय 'भारत-परिषद्' की रचना की गई। इसके सदस्यों का वेतन भी भारतीय राजस्व से देना तय हुआ।

4. भारत सचिव की स्थिति—भारत-सचिव को भारत-परिषद् का अध्यक्ष बनाया गया और अपरिमित शक्तियों से सम्पन्न किया गया। भारतीय राजस्व व विनियोग के अनुदान को छोड़कर वह परिषद् के निर्णयों को रद्द कर सकता था। वह गवर्नर जनरल तथा देशी नरेशों से गुप्त पत्र-व्यवहार भी कर सकता था।

5 भारत सचिव ब्रिटिश सरकार का प्रतिनिधि—सपरिषद् भारत-सचिव को एक प्रकार से ब्रिटिश सरकार का प्रतिनिधि बनाया गया जो कि भारत की भौतिक व नैतिक उन्नति का लेखा रखता था।

6. भारतीय राजस्व व संसद की अनुमति—भारतीय सीमाओं के बाहर सैनिक कार्यों के लिए भारतीय राजस्व का धन ब्रिटिश-ससद के दोनों सदनों की अनुमति से खर्च होना तय हुआ।

7. परिषद् की बैठक—सप्ताह में एक बार भारत-परिषद् की बैठक होना अनिवार्य था जिसकी गणपूर्ति पाँच रखी गई।

8. क्राउन की शक्ति—गवर्नर जनरल एवं गवर्नरों की नियुक्ति की शक्ति क्राउन को दी गई। सपरिषद् भारत सचिव को अनेक परिषदों के सदस्यों की नियुक्ति की शक्ति दी।

9. ब्रिटिश सरकार का दायित्व—कम्पनी द्वारा लिये गये ऋण व की गई संधियों का दायित्व भी ब्रिटिश सरकार को सौंपा गया।

10. महारानी की घोषणा—सरकार-परिवर्तन सम्बन्धी घोषणा का दायित्व महारानी को सौंपा गया।

महारानी की घोषणा—एक नवम्बर 1858 की महारानी की घोषणा में कहा गया कि:—

"हमने उन समस्त भारतीय प्रदेशों को अपने अधिकार में लेने का निर्णय कर लिया है जो इसके पूर्व कम्पनी के पास थे और जिन पर वह हमारी ओर से कार्य कर रही थी। हम इन प्रदेशों में रहने वाली प्रजा से अपने, अपने वारिसों एवं उत्तराधिकारियों के प्रति राजभक्ति की आशा करते है। हम लार्ड केनिङ्ग को भारतीय प्रदेशों का प्रथम वायसराय तथा गवर्नर जनरल नियुक्त करते है। हम समस्त संधियों को जो कम्पनी ने भारतीय राजाओं के साथ की है, . . स्वीकार करते हैं और उन्हें पूर्ण करने का विश्वास दिलाते हैं। हम दूसरे के

एवम् अधिकारों पर छापा मारने की आज्ञा देंगे। हम अपने अधिकारों, प्रतिष्ठा और सम्मान के अनुरूप ही भारतीय नरेशों के अधिकारों प्रतिष्ठा और सम्मान का आदर करेंगे। हम अपनी प्रजा के किसी भी सदस्य पर अपने धार्मिक विचारों को नहीं थोपेंगे और न ही हम प्रजा के धार्मिक जीवन में किसी प्रकार का हस्तक्षेप करेंगे। सबके साथ समान तथा निष्पक्ष न्याय किया जायेगा। नौकरियों के विषय में भर्ती का आधार एकमात्र योग्यता होगी। जाति तथा मत को किसी प्रकार का महत्व नहीं दिया जायेगा। अपराधियों को एवं उन सब विद्रोहियों को बिना शर्त क्षमा दी जाती है। हमारी यह प्रबल इच्छा है कि शान्तिप्रद व्यवसायों को प्रोत्साहन दिया जाये, सार्वजनिक उपयोगिता के कार्यों में वृद्धि की जाये और कृषि-प्रदेशों में रहने वाली प्रजा के हितों को दृष्टि में रखकर शासन किया जाये। प्रजा की समृद्धि में ही हमारी सुरक्षा है और उसकी कृतज्ञता में ही हमारा गौरव है।"

महत्व—महारानी विक्टोरिया की यह घोषणा सन् 1917 तक ब्रिटिश नीति का आधार रही। डा. ईश्वरी प्रसाद ने कहा, "यह घोषणा भारतीय जनता के लिए वरदान सिद्ध हुई। इसने भारतीयों को शांति, समृद्धि, स्वतन्त्रता, समान व्यवहार और योग्यता के बल पर पद प्रदान करने का वचन दिया।"

1858 के एक्ट में दोष—1858 के अधिनियम द्वारा भारतीय प्रशासन में सुधार किये गये किन्तु फिर भी भारत-सचिव को अपरिमित शक्तियाँ सौंपकर उसे निरकुश बना दिया, भारतीय राजस्व पर बहुत भार आ पड़ा। महारानी की घोषणा भी केवल शाब्दिक मायाजाल था।

भारतीय परिषद् अधिनियम-कारण—भारतीय शासन-प्रणाली में सुधार करने हेतु भारतीय परिषद् अधिनियम 1861 में पारित किया क्योंकि कानून निर्मात्री सभा में कोई भारतीय सदस्य नहीं था। इसकी रचना में ही दोष थे। अंग्रेजों एवं भारतीयों के मध्य आपसी बैर को खाई को पाटने के लिए भी कोई न कोई कदम उठाना जरूरी था। इस अधिनियम के मुख्य प्रावधान निम्नलिखित थे—

1. परिषद् रचना में परिवर्तन—गवर्नर जनरल की परिषद् में पांच सदस्य कर दिये और असाधारण सदस्य बनाने का भी प्रावधान रखा।

2. गवर्नर जनरल को आदेश शक्ति—परिषद् में भली-भांति कार्य करने के लिए गवर्नर जनरल को आदेश एवं नियम बनाने की शक्ति दी जिसके परिणामस्वरूप विभाग-पद्धति का जन्म हुआ।

3. गवर्नर जनरल को अन्य शक्तियां—परिषद् की (कानून सम्बन्धी शक्ति को छोड़कर अन्य) शक्तियों का उपभोग केवल गवर्नर जनरल कर सकता था। वह एक अध्यक्ष की नियुक्ति भी कर सकता था जो उसके अधिकारों का उपभोग कर सकता था।

4. कानून निर्मात्री परिषद् का पुनर्गठन—केन्द्रीय कानून निर्मात्री परिषद् का पुनर्गठन किया गया जिसमें भारतीयों को भी स्थान दिया गया।

5. क्राउन में अन्तिम शक्ति—परिषद् के कार्यों को निश्चित एवं सीमित किया गया। अन्तिम निर्णय की शक्ति क्राउन व ससद में रखी गई।

6. प्रान्तीय कानून निर्मात्री परिषद्—प्रान्तीय कानून निर्मात्री परिषद् की गई। बम्बई व मद्रास सरकार को 1833 के अधिनियम के पूर्व की स्थिति प्रदान की गई। इनके द्वारा बनाये गये कानूनो को निषिद्ध एव रद्द करने का अधिकार गवर्नर जनरल एव क्राउन को दिया गया।

7. गवर्नर जनरल को प्रान्त बनाने की शक्ति—कार्य को सुचारु रूप से चलाने के लिए गवर्नर जनरल को नये प्रान्त एव उप-गवर्नर बनाने का अधिकार दिया गया।

दोष—यद्यपि यह अधिनियम आशापूर्ण था किन्तु फिर भी इसमे कुछ मौलिक कमियां थी (1) कानून निर्मात्री परिषदो का निर्माण किया गया परन्तु प्रो० कूपलैण्ड के अनुसार "ये परिषदे उन दरबारो के समान थी जिन्हे भारतीय राजा परम्परागत रूप मे अपनी प्रजा का मत जानने के लिए लगाया करते थे।" (2) प्रो० कीथ के शब्दो में "इस अधिनियम का उद्देश्य भारतीय जनता को विधान-परिषदो मे कोई प्रतिनिधित्व देना नही था। (3) भारत-सचिव चार्ल्स वुड ने देशी राजाओ, भारतीय सामन्तो और उच्च वर्ग के भारतीयो को ही कानून बनाने के कार्य के साथ मिलाना आवश्यक समझा। (4) भारतीय प्रतिनिधि भी अपने नियोक्ता के जी हुजूर बनकर रहते थे। (5) अन्तिम शक्ति गवर्नर जनरल तथा राजसत्ता के पास रखना ही सबसे बडी कमी थी।"

1861 व 1892 के मध्य-सुधार—इस अधिनियम के पश्चात् 1861 से 1892 के मध्य पारित गये अधिनियमों द्वारा भारतीय शासन-व्यवस्था मे यथा-सभव सुधार किये गये, (1) इसी बीच न्यायालयों मे सुधार किया गया, विधियो और पद्धतियों को सहितावद्ध किया गया, (2) गवर्नर जनरल की शक्तियां बढाई गई, (3) महारानी को परिषद् का सदस्य बनाया गया, (4) वर्नाक्यूलर प्रेस अधिनियम, भारतीय शास्त्र अधिनियम एवं इल्बर्ट बिल इसी बीच पारित हुए, (5) इससे भारतीय जनता में भीषण रोष उत्पन्न हुआ जो अन्ततः भारतीयों को संगठित करने मे सफल हुआ।

प्रश्न 3—1882 के परिषद् अधिनियम द्वारा भारतीय शासन-व्यवस्था में क्या सुधार किये गये ?

उत्तर—

भारतीय परिषद् अधिनियम

कारण—सन् 1882 का भारतीय परिषद् अधिनियम भारतीयो के रोष और कांग्रेस की मांगो के कारण पारित किया गया। शिक्षा के प्रसार के कारण भारतीयों में जागृति आई और उन्होंने परिषदो के दोषों को देखा। लार्ड डफरिन ने भी इसके पारित कराने मे सहयोग दिया। अधिनियम द्वारा निम्न परिवर्तन किये गये—

1. केन्द्रीय एवं प्रान्तीय विधान-परिषदों में पहले की अपेक्षा सदस्यों की वृद्धि की गई।

2. अतिरिक्त सदस्यों में आधे गैर सरकारी सदस्यों को लेने की व्यवस्था की।

3. सपरिषद् गवर्नर जनरल तथा परिषद् राज्य सचिव को अतिरिक्त सदस्य मनोनीत करने के बारे में नियम बनाने की शक्ति दी।

4. परोक्ष निर्वाचन-पद्धति को आरंभ करने का अधिकार गवर्नर जनरल को मिला।

5. प्रान्तीय परिषदों एवं गवर्नर जनरल की परिषद् को कार्यकारिणी से प्रश्न पूछने एवं तथा बजट पर बहस करने का अधिकार दिया।

6. गवर्नर जनरल, गवर्नर और लेफ्टीनेंट गवर्नर अपनी परिषदों के रिक्त-स्थानों को भर सकते थे।

7. गवर्नर जनरल की पूर्व स्वीकृति से प्रान्तीय विधान-परिषदें पुराने कानून रद्द करके नये कानून बना सकती थीं।

मूल्यांकन—(1) 1892 का अधिनियम अधिक व्यापक व प्रभावशाली नहीं था। (2) परिषदों में सदस्य वृद्धि कोई खास बात न थी। (3) जनसंख्या की तुलना में प्रान्तीय परिषदों में सदस्य बहुत न्यून थे। (4) विधान-परिषदें बजट पर बहस तो कर सकती थीं पर उन्हें संशोधन एवं मतदान का अधिकार न था। (5) प्रश्न पूछने का अधिकार भी प्रतिबंधित था। (6) निर्वाचन व्यवस्था से भी परिषदों में कोई विशेष परिवर्तन न हुआ। उन्हें 'अपंग परिषदें' भी कहा गया क्योंकि ये भारतीयों के लिए हितकर न थी किन्तु फिर भी इसने संसदीय प्रणाली के विकास में एक कड़ी और जोड़ी।

1892 से 1909 में परिवर्तन—इसके पश्चात् 1892 से 1909 के मध्य कई परिवर्तन हुए। इस बीच शासन का केन्द्रीकरण और अधिकारीकरण हुआ तथा वित्तीय विकेन्द्रण में सुधार किये गये। भारतीय सेना को पुनर्गठित कर एकीकरण किया गया। लार्ड कर्जन ने सीमा प्रान्त जिलों में द्वैध नियंत्रण तोड़ने का फैसला किया तथा अन्य क्षेत्रों में केन्द्रीकरण को दृढ़ किया। महारानी विक्टोरिया का देहान्त हुआ। भारत परिषद् के विधान में परिवर्तन किये। उनकी नौकरी की शर्तों, अवधि एवं वेतन में कमी हुई। इसी काल में कांग्रेस में सैद्धान्तिक फूट द्वारा विभाजन हुआ और अन्त में उनके स्वराज्य की मांग खुल कर सामने आई।

प्रश्न 4—किन परिस्थितियों के कारण मिन्टो-मार्ले सुधार-योजना रखी गई? यह क्या थी? मांटेग्यू घोषणा क्यों करनी पड़ी?

अथवा

1909 के भारतीय परिषद् अधिनियम ने भारतीय राजनीतिक समस्या का कोई उत्तर नहीं दिया। यह कहाँ तक तर्क-संगत है?

उत्तर— भारतीय परिषद् अधिनियम

कारण—सन् 1909 के भारतीय परिषद्-अधिनियम को मिन्टो-मार्ले सुधार-योजना भी कहा जाता है। भारत का जनमत ब्रिटिश शासन के विरुद्ध हो गया था क्योंकि जनता अकाल एवं प्लेग से त्रस्त होने के कारण क्रुद्ध हो गई थी। लार्ड कर्जन ने जनभावनाओं की अवहेलना की। जापान द्वारा रूस की पराजय ने भारतीयों में राष्ट्रीयता और विद्रोह की भावना को उभारा। विदेशों में भारतीयों पर किये गये अत्याचारों से भी क्रान्ति सुलगी। तब लार्ड कर्जन के स्थान पर आये लार्ड मिण्टो एवं मार्ले ने सुधार हेतु सक्रिय कदम उठाये। उनके द्वारा प्रस्तुत सुझाव ही 1909 का भारतीय परिषद् अधिनियम बना जिसकी विशेषताएँ निम्नलिखित थी—

1. केन्द्रीय विधान-परिषद् में 16 से 60 सदस्य किये गये जिससे कुल 69 सदस्य हो गये।

2. प्रान्तीय परिषदों में भी सदस्य वृद्धि की गई।

3. विधान-परिषदों के भी सदस्यों, कार्यों व अधिकारों को बढ़ाया गया।

4. मताधिकार को सीमित एवं भेदभावपूर्ण बनाया गया। यह सम्पत्ति-कर देयता एवं उपाधियों पर आधारित था।

5. प्रतिनिधित्व के बारे में मुस्लिमों को विशेष छूटें दी गईं जिनसे हिन्दुओं को वंचित रखा गया।

6. साम्प्रदायिक चुनाव-पद्धति का प्रारम्भ भी यहीं से होता है। इस पृथक चुनाव प्रणाली से ही देश में साम्प्रदायिकता का बीजारोपण हुआ।

7 परिषदों का सदस्य बनने के लिए ऐसी शर्तें रखी गईं जो पूरी करनी कठिन थीं।

8 भारत के कुछ भागों का तो प्रतिनिधित्व ही नहीं होता था। उनके स्थान पर अन्य स्थानों से सदस्य लिये गये।

9. बम्बई एवं मद्रास की परिषदों में सदस्य 2 से अब 4 कर दिये। सपरिषद् गवर्नर जनरल को ब्रिटिश-संसद की अनुमति से अन्य प्रान्तों में कार्यकारिणी परिषदें बनाने का अधिकार दिया गया।

मूल्यांकन—(1) इस मिण्टो-मार्ले सुधारों द्वारा भारतीय जनता की आकांक्षाओं को पूरा न कर सके (2) भारत में उत्तरदायी शासन की स्थापना के लिए कोई सक्रिय कदम नहीं उठाया गया (3) रावर्ट्स के अनुसार "ये सुधार भारतीयों के लिए अधूरे भवन के समान थे।" मजूमदार ने इन्हें चन्द्रमा की चमक बताया (4) इन्हीं सुधारों द्वारा भारत के विभाजन की भूमिका में साम्प्रदायिकता की नींव रखी गई। राष्ट्रीयता एकता को छिन्न-भिन्न करने का प्रयास किया गया (5) मताधिकार की शर्तें कठोर रखी गईं थीं (6) विधान-परिषदों में विस्तार के बावजूद भी मौलिक दोष वैसे के वैसे बने रहे (7) सरकारी व गैर सरकारी की स्थिति सुदृढ़ न थी। के. वी. पुन्नियाह के अनुसार गैर सरकारी

के भाषण चाहे कितने ही प्रभावशाली क्यों न हों उनके द्वारा प्रस्तुत किये गये सुझाव कितने ही तर्क-पूर्ण क्यों न हों, किन्तु मतदान के समय ये सरकारी सदस्य सदैव सरकार के पक्ष में और गैर सरकारी सदस्यों के विपक्ष में मत देते थे।" (8) सरकार द्वारा इन सुधारों को क्रियान्वित करने हेतु लिये गये कदम इस अधिनियम के एकदम विपरीत थे। (9) रेम्जे मेक्डोनेल्ड के अनुसार "मिण्टो-मार्ले सुधार जनतंत्रवाद और नौकरशाही के बीच एक अधूरा तथा अल्पकालीन समझौता था।" (10) इन सुधारों ने देश में यह स्थिति ला दी कि अन्त में 1909 में मोण्टेग्यू ने यह घोषणा की, कि "ब्रिटिश सरकार का उद्देश्य शनैः शनैः उत्तरदायी सरकार की स्थापना करना है। भारतीयों के हृदय में भी इससे आत्म-विश्वास जागृत हुआ।

1909 से 1919 के मध्य परिवर्तन—सन् 1919 के अधिनियम के पारित होने से पूर्व कुछ ऐसी घटनायें घटीं जिनसे विवश होकर ब्रिटिश सरकार को उत्तरदायी सरकार की स्थापना में कुछ कदम उठाने पड़े। जी. एन. सिंह के शब्दों में, "वस्तुतः यह युग अत्यन्त महत्व की घटनाओं से परिपूर्ण है। इस युग में ब्रिटिश सम्राट ने सम्राज्ञी और एक प्रमुख राजमन्त्री के साथ भारत-भूमि पर पहली बार पदार्पण किया। साम्राज्ञी ने परिषदों तथा अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं में भारत को पहली बार बराबरी का स्थान दिया। उप-भारत मन्त्री के पद पर पहली बार भारतवासी की नियुक्ति की गई, तथा पहली बार ब्रिटिश सरकार ने भारत में अपना लक्ष्य उत्तरदायी राजनीतिक संस्थाओं की स्थापना करना बताया और स्वायत्त-स्वशासक प्रान्तों के संघीय भारत का चित्र क्षितिज पर उठता हुआ दिखाई दिया। इसी समय जनता की इच्छाओं के अनुसार बंगाल के विभाजन में संशोधन हुआ, भारत की राजधानी कलकत्ते से दिल्ली के लिए स्थानान्तरित की गई और वहां एक नया साम्राज्यीय नगर बसाने का निर्णय किया गया, और विभिन्न राजनीतिक संस्थाओं में राष्ट्रों के नर्म और उग्र पक्ष और साथ ही मुस्लिम लीग में ऐक्य हुआ और राष्ट्र के नेताओं ने परस्पर मिलकर राजनीतिक प्रगति के लिए एक सर्वमान्य योजना बनाई।

इसी दशाब्दी में, ब्रिटिश राज्यों को बल द्वारा उखाड़ फेंकने के लिए सन् 1857 के बाद सबसे बड़ा षड्यन्त्र रचा गया, होमरूल (स्वशासन) प्राप्त करने के लिए और अनुचित विधियों को कार्यान्वित होने से रोकने के लिए एक बहुत बड़ा संगठित आंदोलन किया गया। सिक्खों के तीर्थस्थान में एक ब्रिटिश जनरल की आज्ञानुसार जलियांवाला बाग का भीषण हत्याकाण्ड हुआ, पंजाब में मार्शलॉ की घोषणा की गई और शासन का काम फौजी अधिकारियों को सौंप दिया गया और दमन की अत्यन्त कठोर तथा अत्यन्त व्यापक नीति अपनाई गई। सन् 1914–18 के यूरोपीय महायुद्ध का भारत पर भी प्रभाव पड़ा और देश को धन और जन की बहुत बड़ी बलि देनी पड़ी। इसी समय इन्फ्लुएंजा का भी भीषण प्रकोप हुआ और लोगों के कष्ट कई गुना बढ़ गये। इस महामारी के कारण कुछ सप्ताहों में कई लाख आदमी

मर गये। इन मरने वालों की सख्या विभिन्न आकडो के अनुसार 60 लाख से एक करोड़ तक थी। इन बातो के अतिरिक्त प्रशासनीय एव सविधानीय महत्व के कितने ही परिवर्तन हुए, विकेन्द्रीकरण की नीति का विकास हुआ, सन् 1911 मे भारतीय उच्च न्यायालय एक्ट बना, सन् 1912 मे भारतीय शासन एक्ट बना, लोकसेवा आयोग की नियुक्ति हुई और उसकी रिपोर्ट सामने आयी। माण्टेग्यू और ब्रिटिश शिष्ट-मण्डल के अन्य सदस्य भारत आये, सन् 1918 मे भारत के वैधानिक सुधारो पर रिपोर्ट प्रकाशित हुई और सन् 1915, 1916 तथा 1919 मे भारतीय शासन एक्ट बनाये गये।"

शनैः शनैः 1919 के अधिनियम की पृष्ठ-भूमि बनती गई। 1909 का अधिनियम भारतीयो को सन्तुष्ट न कर सका। ब्रिटिश सरकार अपनी दमनकारी नीति मे जरा भी परिवर्तन नही कर रही थी। टर्की का समर्थन न करने और बंगाल-विभाजन रद्द करने से मुस्लिम भी ब्रिटिश विरोधी हो गये। महायुद्ध मे भारतीयों ने सक्रिय सहयोग दिया उसका भी अग्रेजों पर प्रभाव पडा। महायुद्ध चूकि लोकतत्र के लिए लडा जा रहा था इसमें राष्ट्रीय आन्दोलन सशक्त हुआ। मुस्लिम लीग व काग्रेस मे भी आपसी सहयोग की भावना का उदय हुआ। काग्रेस के नर्म तथा गर्म दल में मेल हो गया। तिलक तथा श्रीमती एनीबीसेन्ट द्वारा चलाया गया होमरूल आदोलन भी 1919 के अधिनियम को पारित करने मे सहायक रहा। माण्टेग्यू ने भी भारतीयो को शासनाधिकार देने पर जोर दिया। उन्होने भारत-सचिव बनते ही अपनी महत्वपूर्ण घोषणा की।

माण्टेग्यू घोषणा-विशेषतायें—20 अगस्त, 1917 को की गई माण्टेग्यू घोषणा मे मुख्य विचार था—भारतीयो को शनैः शनैः प्रशासन के हरेक भाग मे अधिकाधिक सख्या मे शामिल किया जायेगा, ब्रिटिश साम्राज्य के एक भाग के रूप मे भारत मे उत्तरदायी शासन की स्थापना की जायेगी। इसके लिए स्वप्रशासनिक सस्थाओ को क्रमिक रूप से विकसित किया जायेगा। इसके लिए उठाये जाने वाले कदमों के समय का निर्णय ब्रिटिश सरकार करेगी।

इस घोषणा के तीन मास बाद माण्टेग्यू मिशन भारत आया। तदोपरान्त विचार-विमर्श के बाद वायसराय चेम्सफोर्ड के साथ माण्टेग्यू ने योजना प्रस्तुत की कि—जनता का नियत्रण स्थानीय संस्थाओं पर हो। प्रान्तो में द्वैध शासन की स्थापना हो, भारत-सचिव का नियत्रण भारत सरकार और प्रान्तीय सरकारो पर कम हो, और सरकार को बिना उत्तरदायित्व दिये अधिकाधिक प्रभावित करने की सुविधाए प्रदान की जायें। 1919 के अधिनियम का आधार ये सुझाव ही थे।

माण्टेग्यू घोषणा भारतीय इतिहास अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखती है। ब्रिटिश सरकार अब अधिक दिनों तक अपने वायदो मे नही मुकर सकती थी। यद्यपि माण्टेग्यू घोषणा भी अस्पष्ट थी। इसमें यह नही बताया गया कि भारत में क्रम

भारत में कितने समय में उत्तरदायी शासन की स्थापना होगी किन्तु फिर भी यह भारतीयों को राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ करने में सहायक हुई।

प्रश्न 5—1919 के अधिनियम की मुख्य विशेषतायें क्या थीं? इसका विस्तृत विवेचन कीजिये।

अथवा

भारत के संवैधानिक इतिहास में 1919 का अधिनियम अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है। क्या आप कथन से सहमत हैं?

अथवा

1919 के अधिनियम द्वारा कहाँ तक भारत में ब्रिटिश सरकार ने उत्तरदायी शासन की स्थापना की?

उत्तर—भूमिका —9 फरवरी सन् 1932 का लार्ड चेम्सफोर्ड ने 1919 के एक्ट के विषय में कहा था, "इतिहास क्रमिक विकास की एक धारा है। प्रकृति के समान मानव के कार्यों का भी मूल उदाहरण नहीं है, किन्तु उसके स्वरूप को ही परिवर्तित कर देने वाले महत्वपूर्ण परिवर्तन उनमें होते हैं और यह उन्हीं में से एक है। यह अधिनियम 20 अगस्त 1917 को की गई इस घोषणा पर आधारित था कि "ब्रिटिश सरकार की नीति जिससे भारत सरकार पूर्ण रूप से सहमत है, यह है कि *भारतवासियों को शासन के प्रत्येक विभाग में अधिक से अधिक भाग दिया* जाय जिससे भारत में धीरे-धीरे एक उत्तरदायी शासन की नींव रखी जा सके और वह ब्रिटिश साम्राज्य के अन्दर रहकर स्वतन्त्र रूप से काम कर सके।" इस प्रकार अंग्रेजों का कहना था कि यह 'भारत सरकार को उत्तम तथा श्रेष्ठ बनाने और वहाँ की जनता को अधिक सन्तुष्ट करने के लिए' पास किए गए हैं।

कारण— किन्तु साम्राज्यवाद कभी उदार नहीं हो सकता, कभी उपहार नहीं दे सकता कभी दानशील नहीं हो सकता। यह परिवर्तन कुछ अंश में मार्लेमिन्टो सुधार की प्रतिक्रिया स्वरूप, कुछ अंश में प्रथम महायुद्ध के कारण स्वरूप तथा मुख्यतः भारतवासियों के राष्ट्रीय आन्दोलन और उसके बलिदान के फलस्वरूप ही किए गए थे। पर कारण चाहे कुछ भी रहे हों, वास्तव में 1919 के एक्ट द्वारा कूपलैण्ड के शब्दों में, "सिद्धान्त तथा व्यवहार दोनों प्रकार से क्रांति का सा प्रभाव हुआ। संविवतन्त्र शासन (Parliamentary Government) के परित्याग को ही अस्वीकार कर दिया गया।" इस अधिनियम में कुछ विशेषताएं विशेष रूप से परिलक्षित हुईं, जो निम्नलिखित थीं—

1. द्वैध शासन—ब्रिटिश सरकार का लक्ष्य धीरे-धीरे क्रमिक विकास के आधार पर उत्तरदायी शासन की स्थापना करना था। इसकी प्राप्ति के लिए क्या कार्य किए जाय, इसे किस प्रकार आगे बढ़ाया जाय यह निश्चय करना एक जटिल समस्या हो गई थी। इस समस्या का हल द्वैध शासन में मिला। शासन के क्षेत्र को

विभाजित करना उचित समझा गया । इस राजनैतिक द्वैतता की व्यावहारिक आधार यह अनुमान था कि यदि भारतवासी एक प्रान्त के समस्त कार्यों को नहीं संभाल सकते थे तो कुछ को तो संभाल सकते हैं । और इस प्रकार अनुभव प्राप्त करके भविष्य में अधिक कार्य संभालने योग्य हो सकेंगे । इसलिए इस एक्ट के अनुसार प्रत्येक प्रान्त की व्यवस्थापिका सभा में से कुछ मन्त्री चुने गए और कुछ विशेष विषयों का भार उनके हाथों मे सौंप दिया गया । यह मन्त्री अपने प्रान्त की व्यवस्थापिका सभा के बहुमत के प्रति उत्तरदायी थे । इन विषयों के सम्बन्ध में यह निश्चित कर दिया गया कि गवर्नर मन्त्रियों की सम्मति से ही कार्य करेगा । शेष अन्य विषय गवर्नर और उसकी कार्यकारिणी समिति के लिए सुरक्षित रखे गए । इस समिति (Executive Council) के सदस्य अब भी सरकारी ही होते थे जो व्यवस्थापिका सभा के साथ अपनी नीति पर विचार-विमर्श करते हुए भी पहले के समान भारत-सचिव के प्रति उत्तरदायी थे । द्वैध शासन 1919 के एक्ट की मुख्य परन्तु साथ ही अपूर्व एवं विलक्षण विशेषता थी ।

2. उत्तरदायी निरंकुश शासन—इसमें प्रान्तों में सुरक्षित विषयों के सम्बन्ध में फिर भी निरंकुश शासन स्थिर रहा । हस्तांतरित विषयों के सम्बन्ध में अवश्य यहाँ आंशिक रूप में उत्तरदायी शासन स्थापित हुआ । परन्तु प्रान्तीय सुरक्षित क्षेत्र में अब भी गवर्नर ही सर्वेसर्वा रहा उसके अधिकार इतने विस्तृत थे कि यदि वह चाहता तो हस्तांतरित क्षेत्र पर भी अपना पूर्ण प्रभाव डाल सकता था । अपने सुरक्षित क्षेत्र के सम्बन्ध में वह केवल पार्लियामेन्ट के प्रति उत्तरदायी था ।

केन्द्रीय कार्यों के सम्बन्ध में यह बात और सच थी । संयुक्त रिपोर्ट के लेखकों ने अपना यह यह मत दिया था कि प्रान्तों में उत्तरदायी सरकार के अतिरिक्त केन्द्र में अब भी निरंकुश शासन ही रहना चाहिये । सैद्धान्तिक रूप में भारत सरकार केवल पार्लियामेंट के प्रति उत्तरदायी रहे । परन्तु व्यावहारिक रूप में प्रतिनिधात्मक सभा के साथ सम्पर्क बनाए रखकर भारतीय जन-सम्मति के प्रति यह उत्तरदायी रहे, इसलिए सैद्धान्तिक रूप में केन्द्र में निरंकुश शासन का ही प्रभाव पड़ा । इस प्रकार यह संभव था कि साम्राज्य शाही के हित के लिए प्रतिनिधात्मक सभा के प्रति उत्तर-दायी रहने का, शब्दाडम्बर से परिपूर्ण आश्वासन पदाक्रान्त समाप्त हो जाए ।

3 लिखित एवं अचल स्वभाव—सन् 1919 के एक्ट द्वारा जो भारतीय विधान प्रस्तावित किया गया था वह मुख्य रूप से लिखित और प्रस्तावित था उसका आधार ब्रिटिश पार्लियामेन्ट द्वारा प्रस्तावित किया हुआ एक प्रस्ताव था ।

इस एक्ट की एक विशेषता थी इसका कठोर (rigid) स्वरूप । जैसा कि सर जॉन मैरियट ने कहा है, "अचल विधान वह है जो केवल एक विशेष, निश्चित एवं व्यवस्थित कार्य-प्रणाली द्वारा, जो साधारण कानून निर्माण की कार्य-प्रणाली से भिन्न हो, परिवर्तित व संशोधित किया जा सके ।" भारतीय विधान की दृढ़ता इसी

तत्व में अन्त-निहित थी कि कुछ विषयों के अतिरिक्त, भारतीय व्यवस्थापिका सभा तथा प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाएँ इसमें किसी प्रकार का वैधानिक परिवर्तन नहीं कर सकती थीं, केवल ब्रिटिश पार्लियामेन्ट के एक्ट द्वारा ही इस एक्ट का खण्डन किया जा सकता था।

4 भारतीय व्यवस्थापिका-सभा का सत्ताहीन स्वरूप :—इस एक्ट द्वारा जिन भारतीय व्यवस्थापिका-सभाओं का निर्माण किया गया था वे प्रोफेसर डायसी के शब्दों में, "कानून निर्माण करने वाली सत्तारहित संस्थाएँ" थीं। उनकी शक्ति और उनके अधिकार का स्रोत गवर्नमेण्ट ऑफ इंडिया एक्ट था जो देश का सर्वोच्च एवं सर्वश्रेष्ठ नियम था। भारतीय व्यवस्थापिका-सभाओं के नियम तथा कानून उसी समय तक वैध माने जा सकते थे जब सर्वोच्च नियम से उनका किसी प्रकार का विरोध नहीं होता था। नवीन एक्ट की यह एक अन्य विशेषता थी।

5 एकात्मक स्वरूप :—इसके अतिरिक्त विधान संघात्मक न होकर अभी तक एकात्मक था। "संघ का तात्पर्य" जैसा कि प्रोफेसर डायसी ने लिखा है, "राज्य की शक्ति का कुछ समान इकाइयों के वितरण, जिनका मूल विधान हो और जिन पर विधान का ही नियन्त्रण हो।" भारतवर्ष के वैधानिक क्रम के लिए यह परिभाषा अभी उपयुक्त नहीं थी। स्विट्जरलैण्ड और स० राज्य अमरीका के समान यहाँ की इकाइयाँ और प्रान्तीय व्यवस्थापिका-सभाएँ स्वतन्त्र और समान स्थिति की नहीं थीं। इसके विपरीत वे केन्द्र के अधीन थीं। गवर्नर जनरल जिसमें शासन तथा व्यवस्थापन क्षेत्र के समस्त अधिकार अन्तर्निहित थे, उनके लिए भी सर्वेसर्वा था। एकात्मकता का अर्थ यही है कि शासन सम्बन्धी अधिकार केन्द्रीय शक्ति में सन्निहित रहें।

6. द्विपाक्षिक व्यवस्था :—जिस समय इस एक्ट का जन्म हुआ था उस समय भारतवर्ष में तीन प्रकार के व्यक्ति थे जिन्हें संतुष्ट करना था। प्रथम प्रकार के व्यक्ति वे थे जो अपने देश का शासन तथा देश के भाग्य-निर्माण में भारतीयों का अधिक प्रभुत्व चाहते थे। द्वितीय प्रकार के व्यक्ति कुछ विशेष प्रकार के हितों के प्रतिनिधि थे तथा तृतीय प्रकार के लोग थे जो भारतीय राजनीतिक संस्थाओं को अधिक उदार स्वरूप देने के लिए शीघ्रता करने में संकट का अनुभव करते थे। 1919 के एक्ट द्वारा इन तीनों प्रकार के वर्गों को, जिनके दृष्टिकोण और विचारों में यथेष्ट अन्तर था, संतुष्ट करने की चेष्टा की गई। इसलिए स्वभावतः ही यह एक्ट प्रगति तथा बाधा में एक प्रकार का मध्य रूप था। तत्कालीन जागृत राष्ट्रीय भावना को तथा उन पक्षपात-पूर्ण व्यक्तियों को जो सिद्धान्त से कहीं अधिक अनुरूप को स्थान देते थे और इसलिए किसी भी नवीन तथा न परखी हुई वस्तुओं को स्वीकार करने के पक्ष में न थी, इस एक्ट द्वारा शांत करने की चेष्टा की गई थी। और "इसका परिणाम था" जैसा कि देवेन्द्रनाथ बनर्जी ने कहा है "निरंकुश शासन और और लोकप्रिय शासन के मध्य द्विपाक्षिक व्यवस्था का जन्म।"

7. सामाजिक लचीला :—इस एक्ट की अंतिम दो महत्वपूर्ण विशेषताएं थी—इसका सामाजिक स्वरूप और लचीलापन। इस एक्ट द्वारा प्रस्तावित शासन प्रणाली भारतवर्ष के वैधानिक नाटक की कथा की अंतिम घटना न थी। भविष्य में आने वाले उत्तराधिकारी एक्ट के पूर्व का यह केवल एक दृश्यमात्र था जो निस्संदेह अत्यधिक महत्वपूर्ण था। नौकरशाही से उत्तरदायी सरकार की ओर अग्रसर होने वाले इस युग की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर ही इस एक्ट का निर्माण किया गया था, क्योंकि भारतवर्ष में अंग्रेजों की नीति का लक्ष्य अब उत्तरदायी सरकार ही था। *जैसा कि मांटेग्यू ने कहा था,* "1919 के सुधार भारत को एक स्थाई विधान नही देते है। ये सुधार अस्थाई हैं। ये सुधार ब्रिटिश पार्लियामेण्ट द्वारा संचालित सरकार तथा भारतीय जनता के प्रतिनिधियों द्वारा चलने वाली सरकार के बीच में एक पुल है।"

भावी-योजना :—इस एक्ट द्वारा यह निश्चय किया गया कि भविष्य में किए जाने वाले सुधारों के लिए दस वर्ष बाद फिर एक समिति कानूनी व्यवस्था द्वारा स्थापित की जायेगी। उस समिति की रिपोर्ट का आधार भारत की वह योग्यता और कार्य-कुशलता होगी जिसका प्रमाण वे सन् 1919 के एक्ट के अनुसार सौंपे गए उत्तर-दायित्व के सम्बन्ध में देंगे। अपने कार्य में भारतीय जितने अधिक योग्य और कुशल सिद्ध होंगे उतने ही अधिक अधिकार कार्य और उतना अधिक उत्तरदायित्व उन्हें सौंपा जायेगा। इस नवीन सुधार से असन्तुष्ट भारतीयों के लिए इस एक्ट का यह सामाजिक स्वरूप ही धैर्य का आश्रय था। उनकी आशा कुछ समय के लिए दब सी गई, परन्तु वह नष्ट न हुई। विधान की इसी धारा में हमें भावी साइमन कमीशन के चिह्न भी अन्तर्निहित मिलते हैं। जहाँ तक विधान के लचीलेपन का प्रश्न है आवश्यकता पड़ने पर गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया एक्ट के अन्तर्गत बने हुए नियमों द्वारा विधान में महत्वपूर्ण परिवर्तन किए जा सकते थे, इसके लिए पार्लियामेण्ट के किसी भी प्रस्ताव की आव-श्यकता न थी। इस एक्ट में वैधानिक परिवर्तनों की मुख्य विशेषताओं को उद्धृत कर दिया गया था, जिन्हें नियमों द्वारा व्यावहारिक तथा विस्तृत रूप प्रदान किया जा सकता था।

प्रश्न 6—"1919 के भारत सरकार अधिनियम में निहित द्वैध शासन व्यव-स्था सिद्धान्ततः खोखली व व्यवहार में न चलने योग्य थी।" व्याख्या कीजिए।

उत्तर— **द्वैध शासन**

भूमिका—के. वी. पुन्नियाह के अनुसार "द्वैध शासन प्रणाली एक अनोखा प्रयोग था। इसका मुख्य प्रयोजन व उद्देश्य भारतीयों को उत्तरदायी शासन की कला में प्रशिक्षण देना था। निस्सदेह इसके निर्माता इस प्रणाली के दोषों और कमियों से परिचित थे परन्तु वे सोचते थे कि तत्कालीन परिस्थितियों में उससे अधिक अच्छा कोई अन्य विकल्प (चारा) न था।"

किन्तु 1919 के एक्ट द्वारा प्रस्तावित द्वैध-शासन प्रणाली सैद्धांतिक, निर्मित एवं व्यावहारिक रूप में इतने अधिक दोषों से पूर्ण थी कि सभी ने एक स्वर से इस प्रणाली की निंदा की। अर्ल ऑफ बर्किन हैड ने लार्ड सभा में द्वैध शासन के संबंध में कहा था। "द्वैध शासन के सिद्धांत के प्रति मैं स्वयं सदैव बड़ा शंकित था। मुझे तो यह एक प्रकार के पांडित्य का मिथ्या प्रदर्शन करने वाला एवं गतिरोधक विधान का आस्वाद सा प्रतीत होता है।"

लॉर्ड बर्किनहैड का समर्थन लार्ड कर्जन ने इन शब्दों में किया कि "मुझे द्वैध शासन से घृणा है।" विलियम मैरिस का मत था कि "द्वैध शासन स्पष्ट रूप से एक दुर्बोध, अगाध्य एवं जटिल प्रणाली है जिसका कोई तार्किक आधार नहीं है, जिसका उद्गम अनुरूपता या समझौता ही है और जो परिवर्तन अथवा अवस्थान के एक उपकरण मात्र ही रक्षणीय है।"

लक्ष्य—भारतवर्ष में द्वैध शासन आंशिक शासन-प्रणाली का परिणाम था—अर्थात् शनैः-शनैः उत्तरदायी सरकार प्रदान करने की प्रणाली ही, जिसका आधार 20 अगस्त सन् 1917 की सम्राट की घोषणा थी, इसका उद्गम थी।

इस प्रकार कुछ मुख्य विषयों के संबंध में उत्तरदायित्व प्रदान करना, तथा हस्तांतरित क्षेत्र के शासन के संचालन और नियंत्रण का अधिकार व्यवस्थापिका सभा को देना ही द्वैध शासन का उद्देश्य था। इस सुधार के पूर्व समस्त शासन के लिए गवर्नर और उसकी समिति गवर्नर जनरल और उसकी समिति के प्रति प्रत्यक्ष रूप से और उसके द्वारा ब्रिटिश पार्लियामेंट के प्रति उत्तरदायी थे। "यदि प्रान्तों का ऊपर से नियंत्रण से निस्तार करना था," जैसा कि किरल पुत्र ने कहा है, "तो यह भी सम्भव था जब ऊपर नीचे से नियंत्रण रखा जाए। कार्य-कारिणी द्वारा नियंत्रण का विकल्प अथवा प्रशांतर जनमत द्वारा नियंत्रण ही है।" इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए हस्तांतरित क्षेत्र का नियंत्रण व्यवस्थापिका सभा को सौंप दिया गया, और हस्तांतरित विषयों का शासन निर्वाचित सदस्यों अथवा मंत्रियों को सौंप दिया गया।

प्रांतीय विभागों का विभाजन सुरक्षित विभागों और हस्तांतरित विभागों के रूप में कर दिया गया था। सुरक्षित विभागों के शासन का संचालन गवर्नर अपनी कार्य-कारिणी समिति की सहायता से करता था, और इसका निरीक्षण व नियंत्रण गवर्नर जनरल तथा भारत-सचिव करते थे। हस्तांतरित विषयों का शासन-प्रबन्ध गवर्नर अपने मंत्रियों की सहायता से करता था, और उसके लिए वे प्रांत की निर्वाचित व्यवस्थापिका सभा के प्रति उत्तरदायी थे। आय, कानून का अर्थ विभाग जो महत्व-पूर्ण थे वे सुरक्षित विषय रखे गए।

इस प्रकार दो ऐसे पदाधिकारियों द्वारा, जिनके स्वरूप और उत्तरदायित्व में ही विभिन्नता हो, द्विविध-शासन की इस नवीन प्रणाली का नाम ही द्वैध शासन

/

है। श्री. बी. के ठाकुर ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है, "शासन की यह नवीन प्रणाली द्वैध शासन की प्रणाली है जिसका अर्थ है दो शासक अथवा दो सत्ताधारियों के अन्तर्गत शासन का संचालन। इस स्थान पर ये सत्ताधारी हैं। ब्रिटिश जनता और प्रान्तीय जन और इस शक्ति का यही मूल अर्थ भी है, परन्तु, क्योंकि शासक *का अर्थ उस व्यक्ति अथवा समिति से भी हो सकता है जो उच्चतम शासनाधिकारी* के निमित्त वास्तविक रूप से कार्यकारिणी के अधिकार का प्रयोग कर रही हो, इसलिए द्वैध शासन इस प्रणाली की ओर भी संकेत करता है जिसमें—

(अ) गवर्नर और उसकी समिति।

(ब) गवर्नर और मंत्रिगण दोनों समानान्तर रूप से शासन करते है।

प्रथम का अधिकार सुरक्षित विषयों और कार्यों से सम्बन्धित है, और द्वितीय का सम्बन्ध हस्तांतरित विषयों और कार्यों से है, और जिसमें प्रथम उस समय तक प्रधान है जब तक कि द्वितीय स्वयं को विकसित कर उस पर छा जाए।"

द्वैध शासन का यह रूप तीनों ही दृष्टियों से दोषपूर्ण था जो निम्न हैं :—

(1) सैद्धान्तिक दृष्टि से।

(2) *निर्माण की विधि या योजना की दृष्टि से।*

(3) व्यावहारिक दृष्टि से।

1. सैद्धान्तिक दृष्टिकोण—द्वैध शासन का मूलाधार ही दोषपूर्ण है। द्वैध शासन के अन्तर्गत जिस सिद्धान्त की कल्पना की गई है वह कदाचित् यही है कि विचार मात्र से ही एक सरकार का विभाजन सम्भव है और यह भी सम्भव है कि इस प्रकार से विभाजित प्रत्येक भाग अथवा भागों के समूह को पृथक् रूप से एक से अधिक कार्यकारिणी इकाइयों के नियन्त्रण में रख दिया जाए, जो पृथक् रूप से विभिन्न अंगों के प्रति उत्तरदायी हो। सच्चिन्द्र सिन्हा ने उचित ही कहा है कि, "उन राष्ट्रों के राजनैतिक अनुभव द्वारा जिनमें लोकप्रिय अथवा उत्तरदायी सरकार की स्थापना है अथवा इतिहास द्वारा इस प्रकार की धारणा अथवा कल्पना को प्रमाणित स्वीकार नहीं किया गया है।"

वास्तविकता तो यही है कि एक सरकार का, चाहे वह निरंकुश हो अथवा उत्तरदायी, अस्तित्व अथवा उसकी सत्ता मानव-शरीर के अवयवों के समान एक अथवा समग्र होनी चाहिए। शासन-विभागों का स्वरूप ही ऐसा है कि मानव-शरीर के अवयवों के समान वे भी अन्योन्याश्रित होते हैं। ये उसी समय तक योग्यतापूर्वक कार्य कर सकते हैं जबकि विभिन्न विभागों में एक दूसरे को सहायता करने की प्रवृत्ति अथवा सहयोग की प्रवृत्ति हो। इस प्रकार परस्पर वे एक अविभाजित संस्था का रूप धारण कर लेते हैं। उनके भाग करके उन्हें विभिन्न प्रतिनिधियों के नियन्त्रण में उस समय तक नहीं रखा जा सकता जब तक कि शासन की कार्य-प्रणाली की है। कार्य के अयोग्य करना ही लक्ष्य न हो। सर रेजीनॉल्ड क्रॉडक ने इस सत्य का प्रतिपादन

निम्नलिखित शब्दों में किया था, "द्वैध शासन एक प्रकार की वर्णसंकर (Hybrid) व्यवस्था है जो कभी स्थाई नही रह सकती, क्योंकि किसी देश अथवा प्रांत के शासन का संचालन दो पृथक् अथवा स्वतंत्र मन्त्रिमंडलों द्वारा सफलता पूर्वक नहीं किया जा सकता।"

2. निर्माण की विधि या योजना की दृष्टि से—सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से दोषपूर्ण होने के साथ साथ, द्वैध शासन का निर्माण भी दुष्ट बुद्धि और अपकार की से किया गया था। इसके निर्माण के कुछ दोष निम्न थे—

(1) हस्तांतरित विषयों का दोषपूर्ण वर्गीकरण—सुरक्षित और हस्तांतरित विषयों का विभाजन शासन की व्यावहारिक दृष्टि से निरकुश, राजनीतिज्ञता के असदृश था। द्वैध शासन का निर्माण इस रूप में हुआ था। कि मन्त्रिगण, जिनके हाथों में हस्तांतरित विषयों का शासन-प्रबन्ध था, कभी भी एक विभाग के पूर्ण अध्यक्ष न हो सकें। हस्तांतरित विभागों को उनके स्वयं के ही क्षेत्रों में भी स्वराज्य नही था। मद्रास के एक मंत्री सर के० वी० रेड्डी ने इस रम्य वैधानिक व्यवस्था का वर्णन इस प्रकार किया था—

"मैं वन रहित उन्नति व प्रगति का मित्र हूं, और आप यह जानते ही हैं कि प्रगति एव उन्नति अधिकांश रूप से वनों पर ही आधारित है। मैं व्यवसाय और व्यापार का मंत्री हूँ परन्तु फैक्टरी पर मेरा कोई नियन्त्रण नही क्योंकि वह एक सुरक्षित विषय है और बिना फैक्टरी के व्यवसाय और व्यापार की कल्पना ही व्यर्थ है। मैं कृषि मन्त्री हूँ परन्तु सिंचाई पर मेरा नियन्त्रण नही। आप समझ सकते हैं कि इसका तात्पर्य क्या है—मैं व्यवसाय और व्यापार का मंत्री हूँ, परन्तु विद्युत् शक्ति पर भी मेरा अधिकार नही।" जो कॉलिज और स्कूल भारतीय राजाओं और नवाबों के बच्चों के लिए खोले गए थे या यूरोपियन, एंग्लो-इण्डियन, सैनिक अधिकारियों और सरकारी कर्मचारियों के बच्चों के लिए खोले गए थे, उन पर शिक्षा-मंत्री का कोई नियन्त्रण न था और वे रक्षित विषयों में रख दिए गए थे।

इस प्रकार 1919 के एक्ट द्वारा प्रस्तावित द्वैध शासन के अन्तर्गत भी एक अन्य द्वैध शासन की व्यवस्था की गई थी और परिणामस्वरूप शासन रूपी देह के अस्थिपंजरों में इस अस्वाभाविक एवं अवास्तविक विभाजन के कारण इतना संघर्ष हुआ कि इस देह पर आघात कर उन्होने शासन के समस्त स्वरूप को ही नष्ट कर दिया।

(2) हस्तांतरित क्षेत्र का हीन एवं अनुत्तम स्वरूप—इससे भी अधिक दुर्भाग्य की बात यह थी कि द्वैधशासन के अन्तर्गत हस्तातरित क्षेत्र को निम्न श्रेणी की तुच्छ दशा तक पहुंचा दिया गया था क्योंकि—

1. गवर्नर और कार्यकारिणी समिति के समान मन्त्रिगण सम्राट के कर्मचारी नहीं [illegible] जाते थे, जो अपनी उदार एवं अद्वितीय कार्यहीनता के लिए प्रसिद्ध हैं। इन

मंत्रियों की नियुक्ति गवर्नर करता था, जिसे संयुक्त प्रवर समिति ने भी अशक्त और नवजन्मित लोक-प्रिय सरकार की योजना में अध्यक्ष पद पर रहने का आदेश दिया था। इस प्रकार वे एक ऐसे व्यक्ति के अधीन थे जो स्वयं किसी अन्य शक्ति के अधीन था।

2 कार्यकारिणी समिति मे अपने सहयोगियों की तुलना मे मन्त्रिगण अन्य विषयों मे भी हीन समझ जाते थे। समिति के सदस्यों को मन्त्रियों की अपेक्षा सदैव ही प्राथमिकता प्राप्त होती थी। "इस प्रकार कार्यकारिणी का नवीनतम सदस्य भी अनुभवी मंत्री से अधिक योग्य समझा जाता था"—सच्चिदा सिन्हा।

3. उप-सभापति का पद कार्यकारिणी समिति के सदस्यों के लिए कानून द्वारा सुरक्षित कर दिया गया था। कानून द्वारा यह निश्चित कर दिया गया था कि उप-सभापति के पद पर गवर्नर मन्त्रियों को नियुक्त नहीं कर सकता था। इस प्रकार गवर्नर का पद रिक्त होने या वे अस्थाई गवर्नर के पद पर आसीन नही हो सकते थे।

4. इसी प्रकार मन्त्रिगण में से कोई भी अर्थविभाग का अध्यक्ष नही हो सकता था। "इन बाधाओं तथा प्रतिबन्धों ने मन्त्रिमण्डल को, भारतवर्ष की आम जनता की सम्मति में, प्रान्तीय सरकार के निम्न भाग के रूप में रखा। इस प्रकार भारतवर्ष में द्वैध शासन राष्ट्रीय भावनाओं की तुच्छ पूर्ति न होकर भारतीय राष्ट्रीयता की स्थिरता के लिए एक चुनौती के समान था।

(स) सुरक्षित क्षेत्र का विलक्षण स्वरूप—एक्ट द्वारा यह निश्चित कर दिया गया था कि गवर्नर और उसकी कार्यकारिणी समिति का कार्य था अपने अधिकार के विभागों का शासन-प्रबन्ध करना, कानून बनाना और व्यवस्थापिका सभा मे बजट उपस्थित करना। इस प्रकार के कार्य करते समय उन्हें बहुमत पर आश्रित न रहकर सदैव ही निर्वाचित सदस्यो के सद्व्यवहार पर आश्रित रहना पड़ता था, जो वास्तविक कार्य-व्यवहार में विरोधी दल का स्वरूप धारण कर लेते थे। जहाँ तक हस्तांतरित क्षेत्र से सम्बन्धित शासन-प्रबन्ध और कानून निर्माण का प्रश्न था, यह सिद्धान्त स्पष्ट रूप से ही दृढ़ था। मन्त्रिमण्डल व्यवस्थापिका सभा मे से ही निर्मित किया जाता था, इसलिए भवन मे उन्हे अपने दल से यथेष्ट सहायता प्राप्त हो सकती थी। परन्तु गवर्नर और उसकी समिति व्यवस्थापिका सभा के न तो सदस्य ही थे और न वे उसके प्रति उत्तरदायी ही थे। इसलिए वे गवर्नर द्वारा नियुक्त किये गये सदस्यों के अतिरिक्त अन्य किसी दल पर अवलम्बित नही कर सकते थे। इसलिए गवर्नर और उसकी समिति से कार्य और नीति का समर्थन करने के लिए जब तक गैर सरकारी सदस्यों की अधिकांश सख्या का बहुमत प्राप्त न हो, किसी कार्य का होना असम्भव सा ही था। इसलिए जैसा कि श्री सिन्हा का कथन है, "विधान मे इस प्रकार के भयंकर दोष होने के कारण, गवर्नर और उसकी समिति को स्वभावतः ही ऐसे उपायों का आश्रय लेना पड़ता था जिनसे वह गैर सरकारी सदस्यों के मत प्राप्त कर सकें,

जो आलोचना के योग्य होते थे और जिनका दूषित प्रभाव सुरक्षित क्षेत्र में सरकार तथा उनकी सहायता करने के अभ्यासी और गैर सरकारी सदस्यों—दोनों पर ही पड़ता है।

इस प्रकार गैर सरकारी सदस्यो को चतुराई से अपने पक्ष में किया जाता था और उनकी नैतिकता पर प्रलोभन द्वारा विजय पाई जाती थी। संक्षेप मे द्वैधशासन का निर्माण ही इस प्रकार किया गया था कि भविष्य मे वह पतन के गर्त की ओर अग्रसर होता चला जाये।

(द) गवर्नर का स्थान—केवल इतना ही नही, द्वैध शासन के निर्माण को एक अति उच्च स्थान प्रदान किया गया है जिसका स्वरूप बड़ा ही विचित्र था। उसका स्वरूप केवल एक वैधानिक अध्यक्ष का स्वरूप नही था। उसे अनेक निरंकुश अधिकार प्राप्त थे जिनका प्रयोग भी वह करता था। वस्तुतः प्रान्तीय शासन का केन्द्र बिन्दु वही था। उस प्रकार की प्रभुत्वपूर्ण स्थिति के होते हुए भी प्रत्येक प्रकार से अत्यधिक रूप मे उसकी रक्षा का प्रबन्ध किया गया था। एक्ट द्वारा यह निश्चित कर दिया गया था कि व्यवस्थापिका सभा मे कोई भी सदस्य उसकी आलोचना नहीं कर सकता था। सरकारी रूप से भवन मे उसके नाम की ओर भी संकेत नही किया जा सकता था। यह सब उचित ही होता यदि वह केवल वैधानिक अध्यक्ष ही होता और केवल अपने मन्त्रियो की इच्छानुसार ही कार्य करता। परन्तु भारतवर्ष में इस विचारधारा को स्थान प्रदान नही किया था, यहां तो गवर्नर को उत्तरदायी मन्त्रियों के अध्यक्ष के रूप मे निरकुश कार्य करने का अधिकार था। साराश यह है कि उत्तरदायी सरकार की द्वैध शासन-प्रणाली में गवर्नर अनुत्तरदायित्व का अवतरण ही था।

3 व्यावहारिक दृष्टिकोण से—द्वैध शासन की व्यवस्था केवल सिद्धान्त और निर्माण के कारण ही असफल नही हुई वरन् उसका व्यावहारिक रूप भी दोषपूर्ण था—

(अ) सयुक्त उत्तरदायित्व की अनुपस्थिति—सयुक्त उत्तरदायित्व प्रत्येक उत्तरदायी सरकार का स्वीकृत एवं महत्वपूर्ण तत्व है। परन्तु सन् 1929 के एक्ट के अन्तर्गत गवर्नरो ने इस सिद्धान्त का प्रयोग नही किया। किसी भी प्रान्त मे इस सिद्धान्त को ग्रहण नही किया गया। यह सत्य है कि एक्ट मे संयुक्त उत्तरदायित्व के सिद्धान्त का निम्न प्रकार से प्रतिपादन किया था "हस्तान्तरित विषयो के सम्बन्ध मे गवर्नर अपने मन्त्रियों की सम्मति से कार्य करेगा," जब तक कि उनसे मतभेद होने के यथेष्ट कारण न हो। 'मन्त्रियो' शब्द का स्पष्ट संकेत संयुक्त उत्तरदायित्व की ही ओर है। परन्तु एक्ट की एक अन्य धारा को व्यावहारिक रूप प्रदान कर इस महत्वपूर्ण धारा को एक प्रकार से समाप्त सा कर दिया गया था। कार्यकारिणी समिति और ... मन्त्रि-मण्डल की कार्यप्रणाली के सुगम सचालन हेतु नियम बनाने तथा

आदेश देने का अधिकार केवल गवर्नर को ही था। इस प्रकार बनाए गए नियमों के अन्तर्गत संयुक्त उत्तरदायित्व को मूल रूप में नष्ट कर दिया गया। नियम इस प्रकार के बनाए गए कि गवर्नर के लिए यह सम्भव हो सके कि वह प्रत्येक मन्त्री से पृथक रूप से विना सके और अपने व्यक्तित्व के प्रभाव से उसे भुका सके। संयुक्त उत्तरदायित्व रहित मन्त्रिमण्डल को मन्त्रिमण्डल कहना हो उस शब्द को निरर्थक बनाना है, इसी तत्व को दृष्टिगत रखते हुए सर अली इमाम ने उचित ही कहा था कि द्वैध शासन की व्यवस्था के अन्तर्गत प्रजातन्त्र का प्रत्येक भाव एव सम्भावना होते हुए भी वह आत्मा रहित शरीर के समान ही था।

(ब) गवर्नर की अधिकार अपहरण की नीति—व्यावहारिक रूप में गवर्नर को इतने अधिकार प्राप्त हो गये, जितने इस सुधार के पूर्व कदाचित कभी नहीं थे। किरल पुत्र के निम्न विश्लेषण से यह भली प्रकार स्पष्ट हो जाएगा—

(i) कार्य-सम्पादन की सुगमता के लिए गवर्नर को नियम बनाने तथा आदेश देने का अधिकार था। गवर्नर इन नियमों का निर्माण इस प्रकार से करते थे कि अधिक से अधिक अधिकार एव शासन की सत्ता उनके हाथों में केन्द्रित हो जाये।

(ii) इसके अतिरिक्त गवर्नर मन्त्रियों से व्यक्तिगत रूप से सम्मति लिया करते थे। इस प्रकार सम्मति में मतभेद होने के आधार पर मन्त्रियों की सम्मति को अस्वीकृत करना सम्भव हो गया, यद्यपि एक्ट में यह स्पष्ट कर दिया गया कि मूल एवं मौलिक मतभेद के अतिरिक्त गवर्नर अपने मन्त्रियों की सम्मति से ही कार्य करेगा। संयुक्त-प्रदेश के प्रथम शिक्षा-मन्त्री श्री चिन्तामणि ने मुद्दीमैन कमेटी को अपने एक पत्र में लिखा था कि एक पुस्तकालय समिति की नियुक्ति में भी गवर्नर ने उन की सम्मति को अस्वीकृत कर दिया था।

(iii) इसके अतिरिक्त प्रान्तों में गवर्नरों ने यह अनधिकृत सिद्धान्त प्रचलित किया कि मन्त्रियों का कर्त्तव्य केवल उसे सम्मति प्रदान करना था। एक्ट के अन्तर्गत भारतीय सरकार द्वारा बनाये गये नियमों द्वारा यह विचारधारा प्रचलित की गई कि नई समिति आदि की उपस्थिति का उद्देश्य गवर्नर की सम्मति के क्षेत्र में वृद्धि करना ही था। इसका तात्पर्य यह हुआ कि मन्त्रियों की सम्मति को स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने की पूर्ण स्वतन्त्रता गवर्नर को मिल गई, वस्तुतः मद्रास सरकार के कानून सम्बन्धी सरकारी पदाधिकारी तो इस सीमा तक पहुंच गये कि व्यवस्थापिका सभा द्वारा हस्तान्तरित क्षेत्र में कुछ नियुक्ति किये जाने पर उन्होंने इसका विरोध इस आधार पर किया कि नियुक्ति करने का उत्तरदायित्व केवल गवर्नर का ही था।

(iv) इसके अतिरिक्त गवर्नर को प्रदान किए गए 'आदेश-पत्र' में यह प्रतिपादित किया गया था कि "सर्विस के समस्त सदस्यों को उनके स्वीकृत कार्यों और स्वीकृत अधिकारों के उपयोग में सुरक्षा का" उत्तर-दायित्व गवर्नर का ही था। यह आदेश इसलिए प्रदान किया गया था कि संकट के समय सर्विस के सदस्यों के हित की

सुरक्षा की जा सके। किन्तु इसकी अशुद्ध व्याख्या इस प्रकार की गई कि मंत्रियों के विभागों से संबंधित सर्विस के सदस्यों की नियुक्ति, उनका पद इत्यादि सब कुछ पूर्ण रूप से गवर्नर के नियंत्रण में छोड़ दिया जाए। इससे गवर्नर के कार्य-क्षेत्र का और भी अधिक विस्तार हुआ।

(v) नियमों के अनुसार यह निश्चित कर दिया था कि सुरक्षित और हस्तांतरित क्षेत्रों के पारस्परिक वैमनस्य और झगड़ों के निर्णय के संबंध में अंतिम अधिकार गवर्नर का था। यह नियम गवर्नर को और भी अधिक अधिकार प्रदान करने वाला सिद्ध हुआ। इस सुधार के पूर्व विभागों में किसी प्रकार का झगड़ा होने पर उसका निर्णय उस कौंसिल के बहुमत द्वारा किया जाता था, जिसमें इस प्रकार के निर्णय के लिए प्रार्थना की जाती थी। परन्तु अब यह अधिकार गवर्नर को प्राप्त हो गया इससे गवर्नर की कार्य-कारिणी समिति और उसके मन्त्रि-मंडल के अधिकार कम हुए और गवर्नर का अधिकार-क्षेत्र और भी व्यापक हो गया।

सन् 1919 के एक्ट द्वारा यह निश्चित कर दिया गया था कि हस्तांतरित क्षेत्र से संबंधित विषयों के संबंध में गवर्नर जनरल के प्रति उत्तरदायी नहीं रहेगा और वह अपने इस उत्तरदायित्व का भार लोकप्रिय मंत्रियों को सौंप देगा, जो निर्वाचित व्यवस्थापिका सभा के प्रति उत्तरदायी होंगे। परन्तु गवर्नर होंगे ने ऐसा नहीं किया और किसी के प्रति उत्तरदायी न रहकर स्वयं इस अधिकार का उपयोग किया। इस व्यवस्था का यही परिणाम हुआ कि सरकार के हस्तांतरित पक्ष की शक्ति और भी क्षीण होती गई। सारांश में किरण पुत्र का कथन है कि, "इस प्रकार प्रान्तीय स्वराज्य का अर्थ गवर्नर के अधिकारों में वृद्धि और समानान्तर रूप से व्यवस्थापिका सभा के प्रति उसके उत्तरदायित्व में कोई वृद्धि न होना ही था। गवर्नर के निरंकुश शासन के कारण 1919 के एक्ट द्वारा प्रदान किए गए पाक्षिक उत्तर-दायित्व की पूर्णता एक स्वप्न के समान ही रही।

(स) मंत्रिगण-व्यावहारिक रूप में कार्य-कारिणी समिति के परिशिष्ट मात्र—ज्वाइन्ट सेलेक्ट समिति का कथन सर्वथा उचित ही था कि सुरक्षित और हस्तांतरित क्षेत्र में किसी विषय पर भी संयुक्त रूप से विचार-विमर्श होना युक्ति-संगत था। 'राजकीय आदेश-पत्र' में भी गवर्नर को इस प्रकार के आदेश प्रदान किए गए थे। लोकसभा में स्वयं मोटेग्यू ने कहा था।

"यह अत्यंत आवश्यक है कि अवस्थान अथवा परिवर्तन के इस काल में इस प्रकार के अवसर अवश्य होने चाहिए जब दोनों पक्ष परस्पर विचार कर सकें तथा एक दूसरे को प्रभावित कर सकें।"

पारस्परिक विचार-विमर्श की यह प्रणाली अधिकांश प्रान्तों में प्रचलित नहीं की गई। यदि कभी विचारों के आदान-प्रदान के अवसर आए भी तो वे केवल नाम के लिए ही थे। उदाहरण स्वरूप बंबई में पारस्परिक विचार के अवसर पर सुरक्षित

(य) व्यवस्थापिका सभा मे उपस्थित जनता के उन प्रतिनिधियों के मत द्वारा मन्त्रि-मंडल को हटाया जा सकता हो, जिनका विश्वास प्राप्त करना उनके लिए प्रत्यावश्यक है।

(ब) मन्त्रियों को अपने विभागों पर पूर्ण अधिकार होना चाहिए जिससे उन विभागों के संबंध मे निर्धारित की गई नीति से यदि किसी प्रकार की परिस्थिति का जन्म हो वे सफलता के साथ उसका पक्ष ग्रहण कर सकें।

(स) मन्त्रियों के प्रत्येक कार्य की आलोचना करने तथा उसे स्वीकृत एवं अस्वीकृत करने के अवसर व्यवस्थापिका सभा को प्राप्त होने चाहिए।

उपर्युक्त तत्वों के आधार पर द्वैध शासन की परीक्षा की जानी चाहिए—

(अ) भवन का निर्माण ही ऐसा किया गया था कि व्यवस्थापिका सभा के प्रति मन्त्रि-मंडल का उत्तरदायित्व एक पाखंड के रूप में रह गया। सरकारी और नियुक्त किए गए सदस्यों की उपस्थिति सदा ही एक दीवाल के समान थी जिससे मन्त्रि-मंडल की स्थिति नाम मात्र के लिए भी महत्वपूर्ण नहीं रहती थी। यद्यपि निर्वाचित सदस्यों के कुछ मत उन्हें प्राप्त हो जाते थे इसके अतिरिक्त 70 प्रतिशत निर्वाचित सदस्यों में से अधिकांश सदस्य विशेष हितों के प्रतिनिधि होते थे जैसे यूरोपियन चेम्बर्स ऑफ कॉमर्स, जमींदार आदि। इन हितों के प्रतिनिधियों के मत चाहें वे किसी नियम पर लिए जाएँ सदैव ही सरकार के पक्ष में रहते थे जो इनके लिए जीवन-दाता के समान थे।

उस संबंध मे मद्रास का उदाहरण दिया जा सकता है। वहाँ के निर्वाचित सदस्यों की संख्या 86 थी जिनमे हिन्दू, मुसलमान और ईसाई सभी के प्रतिनिधि सम्मिलित थे। इसके विपरीत सरकार का बहुमत स्पष्ट रूप से 41 था। इस प्रकार यदि कोई सदस्य निर्वाचित सदस्यों के मत 23 मत प्राप्त कर सकता तो वह मंत्री का पद प्राप्त कर सकता था जो सैद्धांतिक रूप से व्यवस्थापिका सभा के प्रति उत्तरदायी होता था। वास्तव मे वह जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों के प्रति उत्तरदायी न था अपितु वह विभिन्न हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले और सरकारी तथा नियुक्त किए गए गैर सरकारी सदस्यों के प्रति उत्तरदायी था। इस कथन की पुष्टि सर चार्ल्स टॉड हन्टर की स्वीकृति से हो जाती है कि सरकारी और गैर सरकारी सदस्यों को यह आदेश प्रदान किया गया था कि वे सरकार की सहायता करें।

'उत्तरदायी मन्त्रि-मंडल' के अदृष्ट का अनुत्तरदायी पक्ष से समीकरण अथवा एकरूपता किसी अन्य प्रकार की अपेक्षा इस बात को अधिक स्पष्ट कर देती है कि, जैसा कि किरल पुत्र ने कहा है, "एक्ट का उद्देश्य कुछ भी रहा हो, मन्त्रि-मंडल व्यवस्थापिका सभा के प्रति उत्तरदायी नही है, और वह जन सम्मति से स्वतंत्र रूप मे ही अपना कार्य करता है।"

(ब) द्वितीय तत्व के आधार पर परीक्षा करने से ज्ञात होता है कि मंत्री को अपने विभाग पर तनिक सा भी नियंत्रण नही प्राप्त था, जिसे उसे शासन प्रबन्ध

/ /

करना था। प्रत्येक प्रकार के निर्णय का अधिकार गवर्नर को था। प्रत्येक विभाग पर उसी का नियंत्रण था। मन्त्रियो को केवल सम्मति देने का अधिकार था, जिसे कभी तो नम्रता के साथ अस्वीकार किया जा सकता था और कभी उसके बिना भी। मत्री की तुच्छ स्थिति का निर्देशन करते हुए नवाब अली चौधरी ने कहा था, "इसका यह परिणाम हुआ कि यद्यपि अपने शासन-प्रबन्ध के संबंध मे मत्री व्यवस्थापिका सभा के प्रति उत्तरदायी था, परन्तु लगभग समस्त विषयो के सबध के अ तिम निर्णय गवर्नर का ही होता था, यद्यपि कौंसिल से उसका अत्यत कम सम्पर्क था।" अ तत इसके दो भयंकर परिणाम थे—

(i) जब एक विभाग पर एक मत्री का अधिकार न होकर, एक गवर्नर का पूर्ण प्रभुत्व था, इस समय स्वयं मन्त्रि-मडलीय उत्तरदायित्व का स्वरूप ही पाखण्ड-पूर्ण होगा। इसके अतिरिक्त नियमो द्वारा यह निश्चित कर दिया गया था कि गवर्नर के कार्य और उसके निर्णयो पर व्यवस्थापिका सभा किसी प्रकार की कोई टिप्पणी नही कर सकती थी।

(ii) निकट भविष्य मे यह भ्रमपूर्ण वैधानिक सिद्धात प्रचलित हो गया कि मन्त्रिगण कौंसिल के प्रति उत्तरदायी न रहकर एक गवर्नर के प्रति उत्तरदायी थे। बगाल के राजा ने, जो मद्रास के प्रधानमत्री भी थे, यह घोषित किया क्योंकि उनकी नियुक्ति गवर्नर द्वारा हुई थी, इसीलिए वह केवल उसी के लिए उत्तर-दायी थे।

इस प्रकार एक्ट के निर्धारित उद्देश्य को पूर्ण रूप से विकृत कर दिया गया था। मन्त्री की स्थिति भवन के एक नेता से गिरकर एक निम्न पदाधिकारी के समान ही हो गई थी। द्वैध शासन प्रणाली मे मन्त्रिपद स्वीकार करने का अर्थ वास्तव मे जनता के निर्वाचित प्रतिनिधि होकर उनकी सेवा न कर के सरकार के हाथो की कठपुतली मात्र बन जाना था।

(स) तीसरे तत्व के आधार पर परीक्षा करने से ज्ञात होता है कि किसी प्रात की व्यवस्थापिका प्रणाली के अन्तर्गत ऐसी व्यवस्था कही नही थी कि व्यवस्थापिका सभाओ को मन्त्रियो के कार्य को अस्वीकृत करने की सुविधा प्रदान की गई हो। आलोचना का गला घोट दिया गया था। विरोध को मूल रूप से नष्ट कर दिया गया था। अधिकांशतः अविश्वास प्रस्तावों को अवैध घोषित कर दिया जाता था, जैसा एक बार बगाल व्यवस्थापिका सभा के सभापतियो ने किया था।

इस प्रकार पाक्षिक रूप मे भी उत्तरदायी सरकार, जो इस सुधार एक्ट का मुख्य लक्ष्य था, क्षेत्र में किसी भी दृष्टि से प्राप्त न की जा सकी।

द्वैध प्रणाली के अन्तर्गत आर्थिक समस्या—द्वैध शासन की व्यवस्था के अन्तर्गत आर्थिक कठिनाइयो ने उत्तरदायी शासन का स्वप्न और भी भंग कर दिया। सन् 1919 के एक्ट से सबधित जो बात भारतीयो ने सबसे अधिक पसन्द की वह थी कि शिक्षा, स्वास्थ्य एव सफाई आदि जैसे विभाग, जिनसे राष्ट्र निर्माण संभव होता है, लोकप्रिय मन्त्रियो के हाथो मे सौंप दिए गए थे। इसलिए अब इस बात की आशा

करना स्वाभाविक ही था कि राष्ट्रीय उन्नति की जिन योजनाओं के लिए पिछली कौंसिल व्यर्थ ही चिल्लाती रही थी, अब प्रयोग में लाई जाएंगी। परन्तु शीघ्र ही यह प्रकट हो गया कि इन आशाओं को जन्म इसलिए दिया गया था कि कालान्तर में इनका गला घोट दिया जाए। सुधार करने के लिए इन विभागों को धन नहीं दिया जाता। केन्द्रीय अर्थ विभाग को दी जाने वाली प्रांतीय भेंट का धन लार्ड मेस्टन ने पहले ही निश्चित कर दिया था।

मद्रास 348 लाख; बम्बई 46 लाख; बंगाल 63 लाख; संयुक्त-प्रदेश 280 लाख; पंजाब 175 लाख, मध्यप्रदेश 22 लाख और आसाम 15 लाख।

इस प्रकार यह स्पष्ट ही है कि भारतीय प्रान्तों पर यथेष्ट मात्रा में भार डाल दिया गया था। मेस्टन निर्णय ने, जैसा कि किरल पुन ने कहा है, "उत्तरदायी सरकार के शिशु को उसके जन्म लेने से पूर्व ही समाप्त कर दिया गया था।"

प्रान्तों के आर्थिक प्रबन्ध के कारण स्थिति और भी बिगड़ गई। ज्वाइन्ट सेलेक्ट कमेटी ने विभाजित धन के प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। आय का विषय विशेष रूप से एकीभूत क्षेत्र (Concurrent Jurisdiction) के विषय के रूप में छोड़ दिया गया। कालांतर में आय का विषय सुरक्षित क्षेत्र के अन्तर्गत रख दिया गया। अर्थ-विभाग का स्वरूप ही ऐसा होता है कि विश्व के समस्त क्षेत्रों में यह विभाग अन्य विभागों से अधिक महत्वपूर्ण होता है। भारत वर्ष में अर्थ-विभाग की स्थिति को विशेष रूप से दृढ़ बनाया गया था। अन्य विभागों के समस्त प्रस्तावों और योजनाओं पर इस विभाग के प्रतिनिषेध का अधिकार प्रयोग करने की स्वतन्त्रता थी। नवीन व्यय सम्बन्धी समस्त विषयों का निरीक्षण करने और उन पर अपनी सम्मति प्रदान करने का अधिकार भी अर्थ-विभाग को था। इस प्रकार निरीक्षित योजनाओं पर धन प्रदान करने का जिनका निरीक्षण न किया गया हो-अधिकार भी अर्थ-विभाग को था। स्वास्थ्य, शिक्षा तथा व्यवसाय संबंधी विभागों में ही नवीन प्रकार की योजनाएँ विशेष रूप से तैयार की जा सकती थी। इस प्रकार इन विषयों से संबंधित हस्तांतरित विभाग प्रत्यक्ष रूप से कार्यकारिणी समिति के एक सदस्य के नियन्त्रण में रख दिया गया और यह स्पष्ट ही था कि यह सदस्य लोकप्रिय मंत्रियों की भावनाओं से सहानुभूति प्रदर्शित करने में असमर्थ सिद्ध होगा। वास्तव में आर्थिक प्रबन्ध के कारण मन्त्रियों की दशा बड़ी दयनीय हो गई थी। इस सम्बन्ध में सर मोहम्मद फखरुद्दीन का कथन उल्लेखनीय है कि "बिना धन के मुझे योजना तैयार करने वाले एक साधारण कर्मचारी के समान ही समझिए और जब वह (योजना) तैयार हो जाती तो अर्थ-विभाग को यह अधिकार होता था कि धन के आधार पर वह इसे समाप्त कर दे।"

इसके अतिरिक्त सर के० वी० रेड्डी का कथन भी उल्लेखनीय है, "सुरक्षित क्षेत्र में अर्थ-विभाग की सुदृढ़ स्थिति ने मन्त्रियों की स्थिति में और इसके द्वारा एक

अन्य प्रकार से व्यवस्थापिका सभाओं के कार्यक्रम में भी एक विशेष प्रकार की बाधा अथवा असुविधा उत्पन्न कर दी थी। कार्यकारिणी समिति हस्तांतरित विभागों की प्रत्येक योजना से परिचित रहती थी, जबकि सुरक्षित क्षेत्र का कार्यक्रम गुप्त रहता था। इसलिए धन के सबंध मे पूर्णतः परिचित होने के कारण और धन प्राप्त करने के लिए उन्हें प्रत्येक प्रकार की स्थिति का ज्ञान होने के कारण कार्यकारिणी समिति के सदस्य कुछ समय पूर्व ही धन की प्राप्ति के लिए प्रार्थना पत्र देते है। इस प्रकार कार्यकारिणी समिति के सदस्यो को फिर से यथेष्ट धन मिल जाता है और इससे वे अपनी योजनाओं को पूरा करने मे सफल होते हे।"

इस प्रकार व्यावहारिक दृष्टि से द्वैध शासन को नष्ट करने मे आर्थिक प्रबन्ध का भी यथेष्ट हाथ था।

निष्कर्षतः जिस द्वैध शासन प्रणाली द्वारा उत्तरदायी सरकार प्रदान की जाने वाली, व्यावहारिक रूप मे वही अत्यन्त अनुत्तरदायी सिद्ध हुई। प्रारम्भ से ही मन्त्रिमण्डल के उत्तरदायित्व का निषेध किया गया। प्रभावपूर्ण व्यवस्थापक नियन्त्रण की आशाओं को कली रूप मे ही नष्ट कर दिया गया। अर्थ-विभाग की विचित्र एव महत्वपूर्ण स्थिति और सिविल सर्विस के अनत एव व्यापक प्रभुत्व के कारण व्यवस्थापिका सभा वास्तव में मार्ले-मिन्टो सुधार एक्ट के अन्तर्गत स्थापित की गई व्यवस्थापिका सभाओं का ही दूसरा स्वरूप थी। सारांश रूप में किरल पुत्र का कथन उल्लेखनीय है—"द्वैध शासन रूपी पशु मे जो मार्ले-मिन्टो ढग की अनुत्तरदायी सलाहकार समिति और उत्तरदायी मंत्रिमण्डलीय सरकार का सम्मिश्रण था, प्रथम की विशेषता आयु के साथ-साथ अधिक स्पष्ट होती जाती है, यद्यपि वर्ण और स्वरूप द्वितीय का ही रहता है।"

प्रश्न 7—1935 के भारत सरकार अधिनियम के मुख्य लक्षणो का परीक्षण कीजिए।

अथवा

1935 के भारत सरकार अधिनियम की मुख्य विशेषतायें क्या थीं ?

अथवा

1935 के भारत सरकार अधिनियम द्वारा प्रस्तावित भारतीय संघ के लक्षणों की आलोचनात्मक व्याख्या करिये।

उत्तर—भूमिका—भारत में उत्तरदायी शासन की स्थापना करने के उद्देश्य से ब्रिटिश सरकार ने 1935 का भारतीय शासन अधिनियम बनाया। यह 1935 का जो सविधान बना वह एक बहुत लम्बा और जटिल सविधान था; जिसमे 451 धाराएं और 15 सूचियाँ सम्मिलित थी। इस अधिनियम के अन्तर्गत भारतीयों को प्रान्तीय क्षेत्र में स्वायत्त-शासन, केन्द्रीय क्षेत्र मे आंशिक उत्तरदायी शासन एवं अखिल भारतीय संघ देने की व्यवस्था की गई।

सन् 1935 का अधिनियम अपनी विशेषताओं के कारण एक रहस्यपूर्ण अधिनियम कहा जा सकता है। इसके लागू होने के कुछ ही दिनों पहले नेहरू ने इसकी रूपरेखा देखकर इसे 'दासता का विधान' कहा था। उन्होंने आगे कहा था कि इस विधान के अन्तर्गत "प्रान्तीय स्वशासन की स्थापना की जाने वाली थी परन्तु हमें अनुशासन में रखने के लिए वहाँ एक सर्वशक्तिमान और तानाशाह गवर्नर होगा। सबसे उच्च पद पर सर्वोच्च तानाशाह वायसराय पधारेंगे जिनके हाथों में इस बात के सम्पूर्ण अधिकार होंगे कि इच्छानुसार कार्य करें तथा जब चाहे तब प्रतिबन्ध उपस्थित करें। औपनिवेशिक सरकार के संबंध में अंग्रेजों के शासक वर्ग की बुद्धिमत्ता वास्तव में इतनी कभी स्पष्ट नहीं हुई होगी और यह सम्भव है कि हिटलर और मुसोलिनी जैसे व्यक्ति भी उनकी प्रशंसा करें और भारतवर्ष के वायसराय को ईर्ष्या की दृष्टि से देखें।"

यह अधिनियम भारतवर्ष में उत्तरदायी शासन की स्थापना करने की दिशा में दूसरा कदम था। इसका मूलाधार सन् 1919 का अधिनियम था। इसकी प्रमुख विशेषताओं को निम्नांकित ढंग से व्यक्त किया जा सकता है—

1. संघीय-शासन की स्थापना—1935 के अधिनियम के अनुसार ब्रिटिश भारत के प्रान्तों और भारतीय रियासतों को मिलाकर एक संघ की स्थापना की गई। यह संघ 11 ब्रिटिश प्रान्तों, 6 चीफ कमिश्नर के क्षेत्रों और उन देशी रियासतों से मिलकर बनना था, जो स्वेच्छा से संघ में सम्मिलित हों। अधिनियम के अनुसार प्रान्तों के लिए संघ में सम्मिलित होना अनिवार्य था, परन्तु देशी रियासतों के लिए ऐच्छिक था। संघ में सम्मिलित होने वाली प्रत्येक इच्छुक देशी रियासत को एक "प्रवेश-प्रपत्र (*Instrument of Accession*) पर हस्ताक्षर करने होते थे। इस प्रपत्र में उन शर्तों का उल्लेख किया जाता था, जिन पर वह संघ में शामिल होना चाहती थी। संघ की इकाइयों को अपने आंतरिक मामलों में स्वशासन प्राप्त था। अधिनियम के अन्तर्गत एक संघ न्यायालय स्थापित किए जाने को था।

2. केन्द्र में द्वैध-शासन की स्थापना—1935 के अधिनियम ने प्रान्तों में द्वैध शासन समाप्त करके उसे केन्द्र में आरम्भ कर दिया। संघ के अन्तर्गत प्रशासन के विषय दो भागों में विभक्त थे—(क) रक्षित (ख) हस्तांतरित। रक्षित विषयों में प्रतिरक्षा, विदेशीय सम्बन्ध, वैदेशिक कार्य, धार्मिक विषय और जन-जाति क्षेत्र सम्मिलित थे। इन विषयों का प्रशासन अपने तीन परामर्श दाताओं की सलाह से, जिनकी वह स्वयं नियुक्ति करता था सीधे गवर्नर जनरल के प्राधिकार के अन्तर्गत था। हस्तांतरित विषयों के प्रशासन के सम्बन्ध में महाराज्यपाल (गवर्नर जनरल) को एक मंत्रि-परिषद् नियुक्त करनी थी जिसमें मंत्रियों की संख्या 10 से अधिक नहीं हो सकती थी। इन मंत्रियों की नियुक्ति उन लोगों में से की जानी थी जिन्हें केन्द्रीय विधान-मण्डल का बहुमत प्राप्त हो। संघीय मंत्रिमण्डल को उक्त सुरक्षित विभागों के

8 शक्तियों का विभाजन—1935 के अधिनियम के अन्तर्गत विषयों के विभाजन के लिए तीन सूचियां बनाई गई—संघ सूची, प्रान्तीय सूची तथा समवर्ती सूची। संघ सूची मे 59 विषय, प्रान्तीय सूची मे 54 विषय और समवर्ती सूची में 36 विषय रखे गए। सशस्त्र सेनाएं, मुद्रा व नोट, डाक व तार, रेल केन्द्रीय सेवाएं, विदेशी मामले, वायरलेस, रेडियो आदि विषय संघ सूची मे रखे गए। प्रान्तीय सूची में शिक्षा, भू-राजस्व, स्थानीय स्वायत्त-शासन सार्वजनिक स्वास्थ्य, कृषि, सिंचाई, नहरें, जंगल, खाने, प्रान्त के अन्दर व्यापार और उद्योग धन्धे आदि। समवर्ती सूची में वे विषय रखे गए जिन पर संघीय और प्रान्तीय दोनों विधानमण्डल कानून बना सकते थे। यदि प्रान्तीय और केन्द्रीय विधान-मण्डल के कानून में किसी प्रकार का विरोध उत्पन्न हो जाता तो केन्द्रीय विधान-मण्डल के कानून को मान्य समझा जाने की व्यवस्था थी। संघ सूची के विषयों पर संघीय व्यवस्थापिका और प्रान्तीय सूची के विषयो पर प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं को कानून बनाने की शक्ति प्राप्त थी। अवशिष्ट शक्तियां गवर्नर जनरल को प्रदान की गई थी।

9. भारतीय परिषद् की समाप्ति—इस अधिनियम द्वारा भारत परिषद् का अन्त कर दिया गया। भारत मन्त्री के लिए कुछ परामर्शदाता नियुक्त किए गए, जिन से परामर्श लेना अथवा न लेना उसकी इच्छा पर निर्भर था परन्तु सेवाओं के सम्बन्ध मे भारत मन्त्री के लिए इन परामर्शदाताओं का परामर्श मानना आवश्यक था।

10. साम्प्रदायिक निर्वाचन पद्धति का विस्तार—इस अधिनियम ने साम्प्रदायिक निर्वाचक वर्ग को केवल बनाये ही नही रखा बल्कि उसमे विस्तार भी कर दिया। मुसलमानो को संघ के विधान-मण्डल मे 33 प्रतिशत स्थान दिए गए यद्यपि उनकी संख्या भारत की कुल जनसंख्या का $\frac{2}{3}$ भाग न थी। मजदूरो एवं स्त्रियों को भी अलग अधिकार दिए गए। संघीय एवं प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं में आंग्ल भारतीयो, भारतीय ईसाईयो, योरोपियनो और हरिजनो के लिए भी इस पद्धति का विस्तार किया गया।

11. ब्रिटिश संसद की सर्वोपरिता—अधिनियम के द्वारा भारतीय शासन के संबंध मे ब्रिटिश-संसद की सर्वोपरिता मे कोई परिवर्तन नही किया गया। अधिनियम मे किसी भी प्रकार के परिवर्तन करने का अधिकार प्रान्तीय विधान-मण्डलों और संघीय व्यवस्थापिका को नही दिया गया। इस सम्बन्ध मे शक्ति संसद के पास बनी रही। प्रान्तीय तथा केन्द्रीय व्यवस्थापिकाएं कुछ विशेष सीमाओ मे रहते हुए अधिनियम मे संशोधन की सिफारिश कर सकती थी।

12. बर्मा, बरार और अदन—इस अधिनियम के द्वारा बर्मा को भारत से पृथक् कर दिया गया और अदन को भारत सरकार के नियन्त्रण से मुक्त करके 1 अप्रैल 1936 को इङ्गलैंड के औपनिवेशिक कार्यालय के अधीन कर दिया गया। यद्यपि बरार के ऊपर निजाम हैदराबाद की नाममात्र सत्ता स्वीकार कर ली गई, परन्तु उसको शासन की दृष्टि से मध्यप्रांत का अंग बना दिया गया।

13. प्रस्तावना का अभाव—इस अधिनियम में प्रस्तावना नहीं जोड़ी गई थी क्योंकि अधिनियम के रचयिता किसी नई नीति की घोषणा नहीं करना चाहते थे।

अधिनियम का मूल्याङ्कन

1935 का शासन अधिनियम भारत को उत्तरदायी शासन सौंपने के उद्देश्य से बनाया गया था किन्तु अधिनियम की धाराओं को गौर से देखने पर मालूम होता है कि यह एक ऐसा अधिनियम था जिसने भारतीयों को शक्ति देने के बदले शक्ति अंग्रेजो के हाथ मे ही रखी और भारतीयो की प्रशासन करने की शक्ति का उसी प्रकार परीक्षण किया था, जिस प्रकार एक हाथ पाँव बंधे हुए व्यक्ति को नदी में फेंक कर उसकी तैरने की योग्यता का परीक्षण किया जाता है।

यद्यपि कूपलैण्ड के अनुसार 1935 का अधिनियम रचनात्मक राजनीतिक विचार की एक महान् सफलता थी जिसने भारत के भाग्य को अंग्रेजो के हाथों से भारतीयो के हाथ में बदल दिया। इसके विपरीत एटल का कथन सत्य प्रतीत होता है कि इस अधिनियम में अधिराज्य स्थिति या औपनिवेशिक स्वराज्य की चर्चा तक न थी। मुस्लिम लीग के नेता मोहम्मद जिन्ना ने कहा "नया संविधान एक प्रतिक्रियावादी, हानिकारक और रूढ़िवादी पग है जो स्वीकार किए जाने के सर्वथा अयोग्य है।" प० नेहरू ने इसे "दासता का चार्टर" बताया। मदन मोहन मालवीय ने 'बाहर से लोकतान्त्रिक और अन्दर से खोखला" कहकर इसकी निंदा की।

साराश यह है कि 1935 का संविधान भारत की अधिकांश जनता को पसंद न आया और लगभग सभी भारतीय दलों ने इसका विरोध किया।

प्रश्न 8—1935 के भारत सरकार अधिनियम में केन्द्रीय सरकार का क्या स्वरूप था ?

उत्तर— केन्द्रीय सरकार

1. अखिल भारतीय संघ—1935 के अधिनियम द्वारा अखिल भारतीय सघ की स्थापना की गई। किन्तु अधिनियम द्वारा प्रस्तावित अखिल भारतीय सघ सर्वथा असंतोषजनक और निराशाप्रद था। इस योजना के अनुसार यद्यपि लिखित संविधान की व्यवस्था की गई, सघ-सरकार और इकाई की सरकारो मे शक्तियो का विभाजन किया गया तथा संघ-सरकार व स्थानीय सरकारों को अपने-अपने कार्य-क्षेत्रों मे स्वतन्त्र व सीमित रखने के लिए संघीय न्यायालय की स्थापना भी की गई, तथापि अधिनियम के अनुसार स्थापित होने वाला यह संघ वास्तव मे सच्चा संघ न था। इस योजना के मुख्य दोष निम्नलिखित थे :—

2. आरोपित संघ—प्रस्तावित सघ भारतीयो की अपनी स्वतन्त्र इच्छा के फलस्वरूप नहीं बना था वरन् ब्रिटिश-सरकार द्वारा भारत-पर लादा गया था। ब्रिटिश-प्रान्तों के लिए संघ मे सम्मिलित होना अनिवार्य था जबकि भारतीय राज्यों

के लिए नही । संघ का निर्माण करने वाली इकाईयों को अपने संविधान के निर्माण का कोई अधिकार नही दिया गया था और न ही उन्हे संविधान मे संशोधन की शक्ति प्रदान की गई थी ।

3. असमान इकाइयों का मिश्रण—प्रस्तावित संघ का निर्माण जिन इकाइयो द्वारा किया जाना था, वे राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से नितान्त असमान थी । विभिन्न इकाइयों मे क्षेत्र और जनसख्या की दृष्टि से भी अत्यन्त असमानता थी । इसका निर्माण एक दर्जन पालतू साडो, कई सौ जंगली भेडियों, लकडबग्घो और सियारो से होने को था ।

4. देशी रियासतों को अनुपात से अधिक प्रतिनिधित्व—प्रस्तावित संघ में देशी रियासतो को सघीय व्यवस्थापिका मे अत्यधिक प्रतिनिधित्व प्रदान किया गया था । इन रियासतो की जनसख्या भारत की समस्त जनसख्या की लगभग $\frac{1}{4}$ थी, किन्तु इनको राज्य-परिषद् मे 260 मे से 104 और सघीय सभा में 365 मे से 125 स्थान प्रदान किए गए थे ।

5. द्वितीय सदन में इकाइयों को समान प्रतिनिधित्व नहीं—साधारणतया सघात्मक शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत सघ का निर्माण करने वाली इकाइयों को व्यवस्थापिका के द्वितीय सदन मे समान प्रतिनिधित्व प्रदान किया जाता है, जैसा है, जैसा कि अमेरिका की सीनेट मे किया गया है । लेकिन प्रस्तावित सघ की व्यवस्थापिका के उच्च सदन मे सभी इकाइयो को समान प्रतिनिधित्व प्रदान नही किया गया था ।

6. संविधान में संशोधन की शक्ति भारतीयों के पास नहीं—सघात्मक व्यवस्था मे देश का संविधान जनता की सर्वोच्च शक्ति का प्रतीक होता है तथा उसमे जनता ही संशोधन करती है, लेकिन 1935 के विधान के अनुसार विधान मे संशोधन की शक्ति भारतीयो के पास नही थी । विधान मे ब्रिटिश-ससद के द्वारा ही संशोधन किया जा सकता था ।

7. अवशिष्ट शक्तियों का प्रावधान असंगत—अधिनियम द्वारा अवशिष्ट शक्तियाँ केन्द्र या इकाइयों मे निहित नही थी, वरन् ये शक्तियाँ गवर्नर जनरल में निहित थी जो अपने विवेक के अनुसार किसी भी सूची मे उल्लेख किए गए विषय पर कानून बनाने का अधिकार सघीय या प्रांतीय किसी भी व्यवस्थापिका को दे सकता था । देशी रियासतो के सम्बन्ध में अवशिष्ट शक्तियाँ उनके शासको के पास रखी गई थी ।

8. संघीय सभा के लिए परोक्ष निर्वाचन—प्रस्तावित सघ में संघीय व्यवस्थापिका के निम्न सदन सघीय सभा के लिए निर्वाचन परोक्ष रीति से होने थे । यह एक अपूर्व बात थी जिसके द्वारा भारतीयो को लोकप्रिय सदन के निर्माण से वंचित कर दिया जाता है ।

9. **भारतीयों को सत्ता हस्तांतरित नहीं**—प्रस्तावित संघीय योजना के द्वारा भारतीयों को कोई वास्तविक सत्ता हस्तांतरण नही किया जाना था। संघीय सरकार के महत्वपूर्ण कार्य एक मात्र गवर्नर जनरल के नियन्त्रण मे रखे गए। केन्द्रीय सरकार मे लोकप्रिय मंत्रियों को मुद्रा और विनिमय, वैदेशिक सघर्ष और प्रतिरक्षा जैसे महत्वपूर्ण विषयो से कुछ भी लेना देना नही था। सघीय व्यय का 80% उनके नियन्त्रण से बाहर था।

10. **रियासतों के प्रतिनिधियों की नरेशों द्वारा नियुक्ति**—ब्रिटिश प्रान्तों के प्रतिनिधियों का तो जनता द्वारा चुनाव किया जाता था, लेकिन रियासतो के प्रतिनिधियो को सम्बन्धित नरेशो द्वारा नियुक्त किया जाता था। वे प्रतिनिधि अपने उन स्वेच्छाचारी स्वामियों की इच्छानुसार कार्य करने के लिए बाध्य थे, वायसराय और ब्रिटिश सम्राट के अनुशासित दास थे।

निष्कर्ष रूप मे कहा जा सकता है कि प्रस्तावित संघीय योजना अत्यधिक प्रतिक्रियावादी प्रगति विरोधी और भारतीय राज्यो की तुलना मे ब्रिटिश भारत के मौलिक हितो के लिए हानिकारक तथा घातक सिद्ध होती थी। प्रस्तावित सघीय ढांचा इस तरह बनाया गया था कि कोई भी वास्तविक प्रगति असभव हो जाए और अंग्रेजों द्वारा नियन्त्रित शासन-पद्धति में भारतीय जनता के प्रतिनिधियो के हस्तक्षेप या परिवर्तन के लिए कोई गुंजाइश न रह जाय।

सघ के निर्माण की शर्त पूरी न होने के कारण 1 अप्रैल 1936 को जबकि अधिनियम का प्रांतीय अंश लागू किया गया, सघीय योजना को भविष्य मे लागू होने के लिए छोड़ दिया गया। 1939 मे युद्ध प्रारम्भ हो जाने पर गवर्नर जनरल द्वारा अपने 11 दिसम्बर 1939 के भाषण में अधिनियम द्वारा प्रस्तावित संघीय योजना को समाप्त घोषित कर दिया गया।

प्रश्न 9—1935 के भारत सरकार द्वारा केन्द्र में किस प्रकार द्वैध शासन का आरोपण किया गया ?

उत्तर— **संघीय कार्यकारिणी**

केन्द्र में द्वैध शासन की स्थापना—ब्रिटिश-शासन द्वारा भारत सरकार के केन्द्रीय क्षेत्र मे पूर्ण उत्तरदायी सरकार की स्थापना उचित न समझे जाने के कारण केन्द्र मे द्वैध शासन के रूप में पूर्ण उत्तरदायी सरकार की स्थापना उचित न समझे जाने के कारण केन्द्र में द्वैध शासन के रूप में आंशिक उत्तरदायी सरकार की स्थापना की गई। इस उद्देश्य से संघीय विषयो को दो भागो मे बांट दिया गया-रक्षित विषय और हस्तांतरित विषय। प्रतिरक्षा और वैदेशिक मामले, धार्मिक मामले और कबाइली क्षेत्रो के प्रशासन को रक्षित विषय रखा गया और अन्य सभी विषयों को हस्तान्तरित की श्रेणी मे रखा गया।

अधिनियम द्वारा केन्द्रीय क्षेत्र में स्थापित इस द्वैध शासन के अन्तर्गत संघीय कार्यपालिका के निम्नलिखित तीन भाग थे—

1. गवर्नर जनरल

2. रक्षित विषयों के प्रशासन के लिए उत्तरदायी गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी के सदस्य।

3. हस्तान्तरित विषयों के प्रशासन के लिये उत्तरदायी संघीय मन्त्रिपरिषद्।

1. गवर्नर जनरल—गवर्नर जनरल 1935 के अधिनियम के अन्तर्गत संघीय कार्यकारिणी का केन्द्र बिन्दु था। संघ की सम्पूर्ण शक्ति उसमें निहित रखी गई थी और ब्रिटिश सम्राट के प्रतिनिधि के रूप में इस शक्ति का प्रयोग करता था। भारत के सम्पूर्ण प्रशासन के लिए अन्तिम रूप से वही उत्तरदायी था। वस्तुतः 1935 के अधिनियम द्वारा उसे इतनी शक्तियाँ प्रदान की गई थी कि उसका स्वरूप एक "विशाल दैत्य" जैसा हो गया था। गवर्नर जनरल की नियुक्ति 5 वर्ष के लिये की जाती थी और भारतीय खजाने से 2,51,800 रुपये प्रति वर्ष उसे मिलता था। इसके अतिरिक्त उसे अनेक भत्ते व उपलब्धियाँ प्राप्त थी। कुल मिलाकर गवर्नर जनरल पर 18 लाख रुपये प्रतिवर्ष खर्च होते थे।

2. सभासद (Councillors)—अधिनियम के अन्तर्गत यह व्यवस्था की गई थी कि गवर्नर जनरल की सहायता के लिये एक कार्यकारिणी परिषद् होगी जिसमें तीन से अधिक सदस्य नहीं होंगे। ये सदस्य गवर्नर जनरल को रक्षित विभागों का शासन चलाने में सहायता देते थे। सभासद के दोनों सदनों के पदेन सदस्य होते थे किन्तु उन्हें मतदान का कोई अधिकार न था और न ही वे संघीय विधान-मण्डल के प्रति उत्तरदायी थे। इनकी नियुक्ति गवर्नर जनरल द्वारा होती थी और प्रत्यक्ष रूप से उसी के प्रति उत्तरदायी थे। उनका कार्य केवल परामर्श देना था जिसे मानना या न मानना गवर्नर जनरल की इच्छा पर निर्भर करता था।

3. मन्त्रिपरिषद्—हस्तांतरित विषयों का शासन चलाने के लिए एक मन्त्रिपरिषद् की व्यवस्था की गई थी जो संघीय विधान-मण्डल के प्रति उत्तरदायी रखी गई थी। मन्त्रियों की संख्या अधिक से अधिक 10 नियत की गई थी जिनकी नियुक्ति वैधानिक रूप से गवर्नर के हाथ में थी और वही उन्हें पदच्युत भी कर सकता था। बाहर से किसी व्यक्ति को मन्त्री नियुक्त कर लेने पर उसे 7 महीने में या तो सदन का सदस्य बनना पड़ता था या त्यागपत्र देना पड़ता था। मन्त्रियों की शक्तियों पर विभिन्न प्रतिबन्ध था और गवर्नर जनरल की स्वेच्छाचारी शक्तियों तथा व्यक्तिगत निर्णयों की शक्तियों के सम्मुख मन्त्री-वर्ग का शासन-कार्य पर प्रभाव होना असम्भव था।

संघीय विधान-मण्डल

1935 के अधिनियम के अनुसार संघीय विधान-मण्डल द्विसदनात्मक बनाया गया था। राज्य-सभा (Council of States) एवं संघीय सभा (Federal Assembly)

1. राज्य-सभा—संघीय विधानमण्डल के उच्च सदन राज्य-सभा के सदस्यों की संख्या 260 रखी गई। इनमें 156 प्रतिनिधि (150 निर्वाचित और 6 गवर्नर जनरल द्वारा मनोनीत) ब्रिटिश-भारत का प्रतिनिधित्व करने को थे। शेष 104 सदस्यों को देशी रियासतों के प्रतिनिधियों के रूप में, रियासतों के शासकों द्वारा मनोनीत किया जाता था। राज्य-सभा के सदस्यों का चुनाव जनता द्वारा साम्प्रदायिक आधार पर प्रत्यक्ष निर्वाचन के तरीके से किया जाना था और इसमें इकाईयों का प्रतिनिधित्व असमान था। मताधिकार संकुचित तथा सम्पत्ति सम्बन्धी योग्यताओं पर आधारित था। सम्पूर्ण ब्रिटिश-भारत में मतदाताओं की संख्या केवल 1 लाख के लगभग थी।

राज्य-सभा एक स्थाई सदन था जिसका विघटन नहीं हो सकता था। सदस्यों का कार्यकाल 9 वर्ष था तथापि एक तिहाई सदस्य प्रति तीन वर्ष बाद हट जाने को थे।

2. संघीय सभा—संघीय विधटन-मण्डल के निम्न सदन का नाम संघीय-सभा रखा गया। इसके कुल 375 स्थानों में 250 ब्रिटिश-भारत के लिए नियत किये गए थे। ब्रिटिश-भारत के 250 स्थानों में से 4 गैर प्रान्तीय स्थान थे जिन्हें व्यापार वाणिज्य और श्रम में बांट दिया गया था।

संघीय सभा के चुनाव अप्रत्यक्ष होने की व्यवस्था थी। सभा के ब्रिटिश भारत के सदस्यों को निर्वाचन के लिए प्रान्तों में विधानमण्डलों के निम्न सदनों के निर्वाचक मण्डल बनाए गए थे जो अप्रत्यक्ष प्रणाली द्वारा उक्त सदस्यों का निर्वाचन करते थे। संघीय सभा का कार्यकाल 5 वर्ष किया गया था किन्तु गवर्नर जनरल उसे अवधि से पूर्व भी भंग कर सकता था।

3. संघीय न्यायालय—प्रस्तावित संघ में संघीय इकाइयों के आपसी झगड़ों और इनका केन्द्र के साथ झगड़ों का निपटारा करने के लिए संघीय न्यायालय की स्थापना की गई। संघीय न्यायालयों में एक मुख्य न्यायाधीश और अधिक से अधिक 6 अन्य न्यायाधीश नियुक्त किये जा सकते थे किन्तु उस समय केवल एक मुख्य न्यायाधीश और 2 अन्य न्यायाधीश ही नियुक्त किये गये। ये सब न्यायाधीश ब्रिटिश-सम्राट द्वारा अति उच्च योग्यताओं के आधार पर नियुक्त होते थे और इनकी संख्या में केवल तभी वृद्धि की जा सकती थी जब संघीय विधान-मण्डल इस हेतु एक प्रार्थना-पत्र गवर्नर जनरल के माध्यम से ब्रिटिश-सम्राट को भेजे।

न्यायाधीश सदाचार पर्यन्त 65 वर्ष तक की आयु तक अपने पद पर रह सकते थे और इसके पूर्व इन्हें सदाचार अथवा मन, शरीर की दुर्बलता के आधार पर ही सम्राट द्वारा अपदस्थ किया जा सकता था। प्रधान न्यायाधीश का वेतन 7000 रुपया तथा अन्य न्यायाधीशों का वेतन 5,500 रुपया मासिक था। यह वेतन केन्द्रीय राजस्व के मत निरपेक्ष भाग में से दिया जाता था और न्यायाधीशों के कार्यकाल में वेतन में कटौती नहीं की जा सकती थी।

प्रश्न 10—1935 के अधिनियम द्वारा प्रान्तीय शासन-व्यवस्था में क्या परिवर्तन किये गये ?

अथवा

1935 के अधिनियम में प्रान्तीय शासन का क्या प्रावधान था ?

उत्तर–प्रान्तीय शासन—सन् 1919 के अधिनियम के द्वारा प्रान्तो में जिस द्वैध शासन-प्रणाली का सूत्रपात किया गया था, वह विभिन्न त्रुटियों के कारण समाप्त कर दी गई और 1935 के अधिनियम के अन्तर्गत द्वैध प्रणाली के स्थान पर प्रान्तों को स्वायत्त-शासन प्रदान किया गया। इस अधिनियम ने प्रान्तीय प्रशासन को एक नई स्थिति प्रदान की। 1935 के अधिनियम के द्वारा सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन यह किया गया कि प्रान्तों को पहली बार पृथक वैधानिक सत्ता प्रदान की गई। अब प्रान्तीय सरकारें भारत सरकार की अभिकर्त्ता मात्र नही रही, वरन् उन्हें एक पृथक अस्तित्व और सत्ता प्राप्त हो गई। यद्यपि केन्द्र में संघ की स्थापना नहीं हुई लेकिन 1 अप्रैल 1936 से प्रान्तो को कम या अधिक रूप मे स्वायत्तता प्राप्त हो गई और प्रान्तों के साथ संघीय आधार पर व्यवहार किया जाने लगा।

प्रान्तीय कार्यपालिका—1935 के अधिनियम के अनुसार प्रान्तीय कार्यपालिका के निम्न अङ्ग थे—

1 गवर्नर

2. मंत्रिपरिषद्

1. गवर्नर—गवर्नर कार्यपालिका का अध्यक्ष था जिसकी नियुक्ति भारत के राज्य-मन्त्री के परामर्श से ब्रिटिश सम्राट करता था। गवर्नर मन्त्रिमण्डल का प्रमुख होता था। उसकी स्थिति अधिकांश में गवर्नर जनरल के समान थी, अन्तर केवल यह था कि मन्त्रियो के नियन्त्रण से रक्षित शासन के कोई महत्वपूर्ण विभाग नहीं थे। प्रान्त के आर्थिक स्थायित्व का उत्तरदायित्व भी उस पर नही था। गवर्नर की कार्यपालक शक्ति का विस्तार ऐसे सब विषयों तक था जिन पर प्रान्त विधि बना सकता था। गवर्नर को 1,20,000 वार्षिक वेतन मिलता था। विधान-सभाएं गवर्नरों के वेतन और भत्ते मे परिवर्तन कर सकती थी। गवर्नर प्रायः 5 वर्ष के लिए नियुक्त किए जाते थे।

2. मंत्रि-परिषद् (Council of Ministers)—सन् 1935 का अधिनियम गवर्नर को अपनी कार्यपालक शक्तियों के प्रयोग में सहायता और मंत्रणा देने के लिए एक मन्त्रिपरिषद् की सृष्टि का उपबन्ध करता था। गवर्नर ही मन्त्रियो को नियुक्त करेगा और जब चाहे तब पदयुक्त कर सकेगा। किन्तु गवर्नर के निर्देश-पत्र में कहा गया था कि गवर्नर के द्वारा उसी व्यक्ति के परामर्श से मन्त्रियो की नियुक्ति की जानी चाहिए, जिसके पीछे व्यवस्थापिका का बहुमत हो। मंत्री विधान-मण्डल के विश्वास पर्यन्त ही अपने पद पर रहते थे। मन्त्रियों को प्रान्तीय विधान-मण्डलों के प्रति उत्तरदायी बनाया गया।

अधिनियम के अनुसार मन्त्रियों के लिए कोई विशेष योग्यताएँ नही रखी गईं। केवल आवश्यक योग्यता थी कि प्रान्तीय विधान-मण्डल की दोनों मे से किसी एक सदन का सदस्य मन्त्री तो अवश्य होना चाहिए। यदि विधान-मण्डल के बाहर से किसी व्यक्ति को मन्त्री नियुक्त कर दिया जाता था तो उसे 6 महीने के भीतर सदस्य बनना पड़ता था।

अधिनियम मे मन्त्रियो के वेतन निर्धारित नहीं किए गए थे किन्तु यह व्यवस्था थी कि उनके वेतन प्रान्तीय विधान-मण्डल द्वारा पारित एक अधिनियम द्वारा निर्धारित कर दिया जाए। फिर भी मन्त्रियो के कार्यकाल मे उनके वेतन न्यूनाधिक नही हो सकते थे। गवर्नर अपने विवेक से मन्त्रिमण्डल की बैठकों की अध्यक्षता कर सकता था।

मन्त्रियों की सख्या भी निश्चित नही थी। प्रत्येक प्रान्त आवश्यकतानुसार थोड़े या अधिक मन्त्री रख सकता था। प्रान्तो के मन्त्रिमण्डल विभाग-पद्धति *(Portfolio System) पर काम कर रहे थे। एक या एक से अधिक विभाग मन्त्रियों* को सौंप दिए गए थे और मन्त्री ही उनके सफल सचालन के लिए उत्तरदायी थे। किन्तु अनु. 93 मे वर्णित गवर्नर के दुर्जेय अधिकारों ने वास्तविक उत्तरदायी सरकार की स्थापना निश्चित रूप से सदिग्ध बना दी थी।

प्रान्तीय विधान-मण्डल

1935 के अधिनियम द्वारा ब्रिटिश भारत के 11 प्रान्तो मे से 6 के विधान-मण्डल द्वि सदनात्मक बनाए गए—अर्थात् आसाम, बगाल, बिहार, बम्बई, मद्रास और सयुक्त प्रांत मे ऐसा हुआ। शेष पांच प्रान्तो—पजाब, मध्यप्रांत, बरार, उत्तर पश्चिमी सीमा प्रांत, उड़ीसा और सिन्ध मे केवल एक ही सदन रखा गया। द्विसदनीय विधान-मण्डल मे उच्च सदन का नाम विधान-परिषद् और निम्न सदन का नाम विधान-सभा रखा गया। एक सदनीय विधानमण्डल मे सदन का नाम विधान-सभा ही रहा। विधान-सभा के सब सदस्य निर्वाचित होते थे, किन्तु विधान-परिषद् मे निर्वाचित सदस्यों के साथ कुछ नामजद सदस्य भी होते थे।

विधान-सभा का संगठन—प्रांतीय विधान-सभा के सदस्यों की सख्या हर प्रांत में अलग-अलग थी। मद्रास मे 215, बम्बई में 175, पंजाब मे 175, बगाल मे 250, सयुक्त-प्रांत मे 228, बिहार मे 152, मध्यप्रांत और बरार में 112, आसाम में 108, उड़ीसा और सिन्ध में से प्रत्येक मे 60 और उत्तरी-पश्चिमी सीमा-प्रांत मे 50 थी। विभिन्न प्रान्तो में पूना समझौते द्वारा सशोधित साम्प्रदायिक निर्णय के अनुसार ये स्थान बँटे हुए थे। सामान्य स्थानो मे से कुछ स्थान अनुसूचित जातियो के लिए सुरक्षित थे। मुसलमानों, सिखों, आग्ल भारतीयो, यूरोपीयनो व *भारतीय ईसाइयों को साम्प्रदायिक आधार पर और वाणिज्य, उद्योग व खान तथा* बाग, जमीदार, मजदूर और विश्वविद्यालयो के लिए वर्गीय आधार पर स्थान सुरक्षित थे। स्त्रियों के लिए सुरक्षित स्थान भी हिन्दू, मुसलमानों, सिखों, आंग्ल भारतीय व ईसाइयों मे बांट दिए गए थे।

विधान-परिषदों का संगठन—विधान-परिषदों का उपबन्ध 6 प्रान्तों के लिए था। विधान-परिषद् की सदस्य-संख्या बंगाल में 65, मद्रास मे 56, संयुक्तप्रांत मे 60, बम्बई और बिहार मे 30 और आसाम में 22 थी।

मताधिकार एवं प्रत्याशियों की अर्हताएँ—प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं का निर्वाचन सब वयस्क नागरिकों द्वारा नहीं होता था, वरन् समस्त जनसंख्या के लगभग 14 प्रतिशत को ही मताधिकार प्राप्त था। इसके लिए शिक्षा, सम्पत्ति या कर की योग्यता रखी गई थी।

प्रान्तीय विधान-सभा की सदस्यता के लिए 25 वर्ष और प्रान्तीय विधान परिषद् के लिए 30 वर्ष की आयु ही की आवश्यक थी। कोई व्यक्ति विधान-मण्डल के दोनो सदनों का सदस्य नहीं हो सकता था। उम्मीदवार के लिए निर्वाचन क्षेत्र में कुछ दिन प्राय' 180 या 120 दिन का निवास आवश्यक था। विधान-सभा का कार्यकाल 5 वर्ष रखा गया था और उसे इसके पूर्व भी विघटित किया जा सकता था और कार्यकाल आगे भी बढ़ाया जा सकता था। प्रांतीय विधान-परिषद् एक स्थाई परिषद् थी। इसके सदस्यों की पदावधि 9 वर्ष थी पर उनमे से एक तिहाई सदस्य प्रति तीन वर्ष बाद अलग हो जाते थे।

प्रश्न 11—1935 के अधिनियम द्वारा प्रान्तीय स्वशासन किस प्रकार लागू किया गया ?

अथवा

प्रान्तीय स्वशासन क्या था ? 1935 के एक्ट में इसका क्या प्रावधान था ?

उत्तर—

प्रान्तीय स्वशासन
(Provincial Autonomy)

सन् 1919 के अधिनियम द्वारा प्रान्तीय क्षेत्र में जिस शासन की स्थापना की गई थी, 1935 के अधिनियम द्वारा उसका अन्त कर दिया गया। अब रक्षित और हस्तान्तरित का कोई भेद न रहा। इस अधिनियम द्वारा प्रान्तों को एक नवीन वैधानिक दर्जा प्रदान किया गया। उन्हे स्वशासित राजनैतिक इकाई का रूप प्रदान किया गया और उन्हें अपने निश्चित क्षेत्र मे केन्द्रीय हस्तक्षेप से स्वतन्त्र रूप में सत्ता प्रदान की गई। उन्हे प्रान्तीय सूची के 54 विषयो पर विधायी, प्रशासकीय और वित्तीय क्षेत्र मे एकमेव सत्ता प्रदान की गई। इस 1935 के अधिनियम द्वारा प्रांतीय क्षेत्र में प्रान्तीय स्वशासन की स्थापना की गई।

प्रान्तीय स्वशासन का अर्थ—प्रान्तीय स्वशासन के दो अर्थ लिये जा सकते हैं—इसका प्रथम अर्थ यह है कि प्रान्तों को अपने एक निश्चित क्षेत्र में स्वतन्त्रापूर्वक कार्य करने का अधिकार होना चाहिये, अर्थात् अपने निश्चित क्षेत्र मे वे केन्द्रीय नियन्त्रण अथवा वाह्य नियन्त्रण से स्वतन्त्र होने चाहिये। प्रान्तीय स्वशासन का दूसरा अर्थ प्रान्त मे उत्तरदायी शासन की स्थापना से है अर्थात् प्रान्त में शासन की

सत्ता ऐसे लोकप्रिय मन्त्रियों के हाथ में होनी चाहिए, जो व्यवस्थापिका के प्रति और व्यवस्थापिका के माध्यम से जनता के प्रति उत्तरदायी हो।

प्रान्तीय स्वशासन पर वाह्य नियन्त्रण—अधिनियम के अन्तर्गत इस प्रकार के किसी विधेयक को प्रान्तीय विधान-मण्डल के पास पुनर्विचार के लिये भी भेज सकता था।

5. अधिनियम के द्वारा गवर्नर जनरल के कुछ विशेष उत्तरदायित्व निश्चित किए गये थे, जिनके आधार पर गवर्नर जनरल प्रान्तीय क्षेत्र में हस्तक्षेप कर सकता था। अपने विशेष उत्तरदायित्व के पालन के लिए मन्त्री को कोई आदेश दिया जा सकता था।

आन्तरिक क्षेत्र में प्रतिबन्ध—अधिनियम के अनुसार प्रान्तीय शासन आतरिक क्षेत्र में भी पूर्ण न था—

1. अधिनियम के द्वारा गवर्नर को एक सवैधानिक अध्यक्ष न बनाकर वास्तविक अध्यक्ष बना दिया गया था। उसे सम्पूर्ण प्रान्तीय-शासन को नियन्त्रण करने की शक्ति प्राप्त थी। वह किसी भी विधेयक को अस्वीकृत या पुनर्विचार के लिए लौटा सकता था। उसे अध्यादेश जारी करने और अधिनियम बनाने की शक्ति प्राप्त थी।

2 अधिनियम के अनुसार सारा बजट उसकी देखरेख मे तैयार होता था और वह ऐसी किसी मांग को यथापूर्व कर सकता था, जिसे प्रान्तीय व्यवस्थापिका द्वारा कम या अस्वीकृत कर दिया गया हो।

3. मन्त्रियों की नियुक्ति एव पदच्युति की शक्ति भी उस के पास थी। वही मन्त्रियो मे विभागो का बटवारा करता और उनकी बैठकें बुलाता था।

4. सवैधानिक रूप से सार्वजनिक सेवाओ पर मन्त्रियो का कोई नियन्त्रण न था और सचिवो को सीधे गवर्नर से मिलने की आज्ञा थी।

प्रान्तीय शासन पर बाह्य एव आन्तरिक प्रतिबन्धो के आधार पर बिना किसी प्रान्तीय शासन मे केन्द्रीय हस्तक्षेप की प्रमुख व्यवस्थाएं निम्नलिखित थी—

1. अधिनियम की धारा 102 मे कहा गया था कि गवर्नर जनरल के द्वारा गम्भीर आन्तरिक अव्यवस्था या अशान्ति अथवा युद्ध के वास्तविक या सम्भावित खतरे के कारण सकटकालीन स्थिति की घोषणा की जा सकती थी और इस प्रकार की घोषणा हो जाने पर संघीय विधान-मण्डल को प्रान्तीय सूची के विषयों पर भी कानून बनाने का अधिकार प्राप्त हो जाता था।

2. अधिनियम की धारा 126 के अनुसार गवर्नर जनरल प्रान्तीय सरकारो को भारतीय शान्ति एवं सुरक्षा के लिए आवश्यक निर्देश जारी कर सकता था कि सवैधानिक तंत्र विफल हो गया है और उसके अनुसार सरकार नही चलाई जा सकती, तो प्रान्तीय शासन के सारे ढांचे का अन्त हो जाता था और प्रान्तीय शासन का सारा भार स्वयं गवर्नर सम्भाल लेता था।

3. प्रान्तीय कानूनी क्षेत्र में भी गवर्नर जनरल का नियन्त्रण एक वास्तविकता

थी। कुछ विशेष प्रकार के विधेयक अथवा संशोधन गवर्नर जनरल की पूर्व आज्ञा के बिना प्रान्तीय विधान-मण्डल में पेश नहीं किये जा सकते थे।

4. प्रान्तीय विधान-मण्डलों द्वारा पारित विधेयकों को गवर्नर द्वारा गवर्नर जनरल की अनुमति के लिए सुरक्षित रखा जा सकता था। इन विधेयकों पर स्वीकृति देना या न देना गवर्नर जनरल की इच्छा पर निर्भर था। गवर्नर जनरल यदि चाहता तो इन विधेयकों को ब्रिटिश-सम्राट की स्वीकृति के लिये रिजर्व कर सकता था। गवर्नर जनरल के द्वारा अतिशयोक्ति कहा जा सकता है कि प्रान्तीय स्वशासन केवल एक धोखा था।

इन कमियों और बाधाओं के बावजूद प्रान्तीय शासन में नवीन योजना पुरानी व्यवस्था पर एक निश्चित सुधार थी। इसी कारण कांग्रेस और भारत के दूसरे राजनैतिक दलों द्वारा संघीय योजना को अस्वीकार करते हुए भी 1935 के अधिनियम के प्रान्तीय अंश को स्वीकार कर उसके अनुसार कार्य करना मन्जूर कर लिया था।

प्रश्न 12—भारत की संविधान-सभा के गठन और कार्य-प्रणाली का विस्तार से वर्णन कीजिए।

अथवा

भारतीय संविधान-सभा के प्रतिनिध्यात्मक चरित्र की विवेचना कीजिए। क्या यह कहना उचित है कि भारतीय संविधान का निर्माण कांग्रेस दल द्वारा हुआ था और उसी के द्वारा भारतीय जनता को दिया गया।

उत्तर—कांग्रेस ने 1933 के 'श्वेत-पत्र' को अस्वीकार करते हुए एक संविधान-निर्मात्री-सभा की माँग की थी। तदोपरान्त कई प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं में एवं 1937 की केन्द्रीय धारा-सभा में कांग्रेस ने पुनः इस माँग को दोहराया कि भारत ऐसे संविधान को स्वीकार करेगा जो भारतीय जनता के प्रतिनिधियों द्वारा बाह्य सत्ता के हस्तक्षेप के बिना बनाया गया हो।

द्वितीय महायुद्ध के मध्य भारतीयों में राष्ट्रीयता, स्वाभिमान एवं आत्माभिव्यक्ति की भावना ने जोर पकड़ा। स्वतन्त्रता प्राप्ति एक स्वयं सिद्ध लक्ष्य बन गया। ऐसी स्थिति में केवल भारतीयों द्वारा बनाया गया संविधान ही उन्हें मान्य हो सकता था। फलस्वरूप दिसम्बर 1946 में एक संविधान-निर्मात्री-सभा को बुलाया गया जिसके द्वारा निर्मित संविधान के आधार पर आज भी भारतीय शासन अवलम्बित है।

संगठन—संविधान-निर्मात्री-सभा का संगठन निम्न आधार पर हुआ—

1. उस समय के प्रान्तों के प्रतिनिधि जिनका चुनाव तत्कालीन प्रान्तीय विधान-सभाओं द्वारा हुआ था। प्रान्तों के प्रतिनिधि वहाँ की जातियों के बीच उनकी आनुपातिक शक्ति पर विभक्त कर दिये गये थे।

2. राज्यों के प्रतिनिधियों का आधार भी जनसंख्या का दस लाख पर एक प्रतिनिधि चुना जाता था। इनके चयन की विधि देशी नरेशों की गई वार्ता थी।

आलोचना—

संविधान-सभा के संगठन विधि की भी आलोचना निम्न आधार पर की गई—

1 इसके प्रतिनिधि प्रत्यक्ष रूप से जनता के प्रतिनिधि न थे एव प्रान्तीय विधान-सभाओ ने जिन्होंने इन्हें चुनकर भेजा था स्वय सार्वजनिक मत का प्रतिनिधित्व नही करती थी । इसलिए इनके द्वारा चुनी गई संविधान-सभा और उनके द्वारा निर्मित संविधान लेशमात्र भी जनप्रतिनिधित्व नही कर सकता ।

2 संविधान-सभा के संगठन का आधार साम्प्रदायवाद था । इसका लक्ष्य देश को विभक्त होने से बचाना था, पर यह असफल रहा क्योंकि इस सभा मे एक ओर तो साम्प्रदायिकता का पुट विद्यमान रहा और दूसरी ओर देश का विभाजन भी हो गया ।

3. जिस आधार पर राज्यो के प्रतिनिधियो को संविधान-सभा मे शामिल किया उससे यह साफ जाहिर होता था कि 'श्रेष्ठता (Paramountcy) के सिद्धान्त को अपनाया गया था । यह वह स्थिति थी जिसे संविधान-निर्मात्री-सभा के संगठन के लिए स्वीकार नही किया जाना चाहिये था क्योंकि इससे राज्यों को भारतीय सरकार से सौदा करके मनचाहे प्रतिनिधि जो संविधान-सभा मे भाग लेने के लिए आये थे वहाँ की जनता के प्रतिनिधि न होकर वहाँ के राजाओ के प्रतिनिधि थे इसलिए संविधान-सभा न तो जनता का प्रतीक थी और न ही राष्ट्र का । वह तो केवल देशी रियासतो और इने-गिने अमीरो और शिक्षितों की सभा थी ।

संविधान-सभा का उद्भव व विकास

स्टेफर्ड क्रिप्स की माँग—द्वितीय महासमर की समाप्ति के बाद भारत संविधान निर्मात्री-सभा के लिए पूरी तरह उद्यत था । राजनीतिक नेता (डा अम्बेडकर व व मोहम्मद-अली जिन्ना को छोड़कर) भी इसकी माँग जोरो से कर रहे थे । 1842 में सर स्टेफर्ड क्रिप्स द्वारा रखे गये प्रस्तावो मे भी प्रथम-बार इसको स्वीकार किया गया ।

मजदूर दल की घोषणा—सितम्बर 1945 मे ब्रिटिश मजदूर-दल ने घोषणा की कि वह भारत में संविधान-निर्मात्री-सभा के संगठन पर विचार कर रही है । इसके लिए ही प्रान्तीय विधान-सभाओ के नये आम-चुनाव करवाये गये । तत्पश्चात् जनवरी 1946 मे ब्रिटिश का एक संसदीय प्रतिनिधि-मण्डल भारत आया जिसने बताया कि भारत को स्वतंत्रता मिलने मे अब देर नही है । मार्च मे ही इसी हेतु वाससराय की सहायता के लिए केबीनेट मिशन भारत आया जिसके माध्यम से भारतीयो को अपना संविधान बनाना था ।

जिन्ना द्वारा एक और संविधान-निर्मात्री-सभा की माँग—मुस्लिम कांग्रेस के परस्पर विरोधी होने के कारण संविधान-निर्मात्री-सभा के ... असफल होने निश्चित थे । कांग्रेस भारतीयों के लिए संविधान-निर्माण के

संविधान-निर्मात्री-सभा की स्थापना पर जोर दे रही थी तो जिन्ना अंग्रेजों के भारत में बने रहने के पक्ष में थे। तत्पश्चात् 1945 में जिन्ना ने दो संविधान निर्मात्री-सभाओं की माग की—एक भारत के लिए और दूसरी पाकिस्तान के लिए। दोनों राष्ट्रों और संविधानों के बनने पर ही स्वतंत्रता मिलनी चाहिये।

कांग्रेस का देश की अखंडता में विश्वास—इसके विपरीत कांग्रेस राष्ट्रीय एकता में विश्वास रखती थी। एक सशक्त राष्ट्र का निर्माण इसका ध्येय था। एक ही संविधान के अन्तर्गत सभी समूहों के अधिकारों की रक्षा और अधिकाधिक स्वायत्तता प्रदान की जाये। भारत में सामाजिक क्रान्ति लाने के लिए सरकार पर्याप्त दृढ़ होनी चाहिये। केबीनेट-मिशन ने दोनों विचार-धाराओं को मिलाने के लिए एक समन्वयात्मक योजना रखी। इसके अनुसार भारत को एक राज्य रहना था पर केन्द्रीय सरकार की शक्ति विदेशी मामलों, यातायात और प्रतीक्षा तक ही सीमित रहनी थी। प्रान्तों को तीन भौगोलिक क्षेत्रों के रूप में बांटा जाना था जिनमें एक क्षेत्र में मुस्लिम बाहुल्य, दूसरे में हिन्दू बाहुल्य एवं तीसरे में लगभग समान संख्या हो। वार्ता के पश्चात् कुछ आपत्तियों सहित इसे दोनों पक्षों द्वारा स्वीकार कर लिया गया। जिन्ना ने इसमें पाकिस्तान के निर्माण की झलक देखी और अंग्रेजों व लीग द्वारा स्वीकार करने पर कांग्रेस ने भी इसे स्वीकार कर लिया।

लीग व कांग्रेस में सक्रिय मतभेद—केबीनेट-मिशन योजना ने सार्वजनिक मताधिकार को जटिल और धीमा बताकर यह प्रस्ताव रखा कि प्रान्तीय-प्रान्तीय व्यवस्थापिकायें संविधान-सभा का चुनाव करेंगी। कांग्रेस ने इसके सामने अपनी सार्वजनिक मताधिकार की माग को त्याग दिया। इस योजना के अन्तर्गत ही लीग और कांग्रेस के बीच समझौता कराने और अन्तरिम सरकार की स्थापना के प्रयास जारी रहे। कांग्रेस ने सभा के आह्वान में प्रयत्न किया और मूलाधिकारों के प्रारूप को बनाने के लिए विशेषज्ञ समिति का गठन किया। वायसराय के आमन्त्रण पर कांग्रेस ने श्री नेहरू के प्रधान-मन्त्रित्व में अन्तरिम-सरकार का गठन किया। लीग ने शुरू में तो सभा के प्रति उपेक्षा की पर बाद में अन्तरिम सरकार को गिराने के उद्देश्य से उसमें भाग लेना प्रारंभ किया। लीग व कांग्रेस में मतभेद होने के कारण सभा का अधिवेशन बुलाने की तिथि 2 दिसम्बर रखी। लीग ने सभा का बहिष्कार किया और लोगों ने तब आपत्ति उठाई कि यह प्रभुसत्ताधारी सभा नहीं है। गांधी, मौलाना आजाद, नेहरू एवं राजेन्द्र-प्रसाद ने इसे सम्प्रभु माना। 20 जुलाई 1946 को सभा ने निर्णय लिया कि सदन $\frac{2}{3}$ सदस्यों के बहुमत के बिना सभा भंग नहीं की जा सकेगी। लीग के विरोधी रवैये के कारण अन्त में सभा में मूलाधिकार, संघ-व्यवस्था और रियासती राज्यों से वार्ता को प्रारंभ करने के लिए समितियों का गठन किया गया।

भारत का विभाजन—भारत के विभाजन की माग के जोर पकड़ने के कारण 3 जून 1947 को लार्ड माउन्टबेटन ने घोषणा करदी कि 15 अगस्त को भारत व

पाकिस्तान दो स्वतंत्र राज्य होंगे। भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम द्वारा कथित तिथि को भारत स्वतंत्र हुआ और संविधान-सभा को वैधानिक रूप प्रदान किया गया।

भारत में संविधान-सभा

कांग्रेस का योगदान—संविधान-निर्मात्री-सभा मे मुख्यत. एक ही दल था। सभा काग्रेस थी और काग्रेस भारत था। इस कठोर त्रिकोण को पूरा सरकार ने किया और काग्रेस सरकार भी थी। सभा, काग्रेस और सरकार तीन पृथक बिन्दु होने पर भी मिली-जुली सदस्यता के कारण परस्पर सबधित थे। भारत के लिए उन्होने एक अर्थ-पूर्ण स्वरूप ग्रहण किया। सविधान-सभा द्वारा प्रतिक्रियावादी और क्रान्तिकारी विचार खुलकर व्यक्त किये जाते थे। इसमे नियम जनतांत्रिक प्रक्रिया से बनाये जाते थे। संथानम के अनुसार "शायद ही जनमत का कोई ऐसा दृष्टिकोण बचा हो जिसे कि सभा मे प्रतिनिधित्व न मिला हो।

संविधान-सभा के सदस्य—नेहरू, पन्त और राजगोपालाचारी काग्रेस के गणमान्य नेता थे। अय्यर, कु जरू, आयगर, अम्बेडकर, सथानम, जयकर, सच्चिदानन्द सिन्हा एव के. एम मु शी भी प्रशासन व कानून के क्षेत्र मे सुविख्यात थे। सभा मे अल्प सख्यकों के प्रतिनिधित्व के लिए एक नेपाली, 5 सिक्ख, 3 पारसी, 7 ईसाई, 3 एंग्लो इंडियन, 5 पिछड़ी जातियों के, 31 मुस्लिम और 33 सवर्ण जातियों के थे। साम्यवादी दल, समाजवादी दल और हिन्दू महासभा को इसमे कोई प्रतिनिधित्व न दिया गया। राष्ट्रीय स्वयं सेवक सघ व अन्य हिन्दू साम्प्रदायिक सगठनो को भी इसमें कोई स्थान नही दिया गया। आस्टिन का मत है कि "उनकी अनुपस्थिति का सस्थागत पक्ष पर कोई प्रभाव नही पड़ा क्योंकि उनके साम्प्रदायिक विचारो का सभा के सदस्यो पर प्रभाव न पड़ना निश्चित था। इसके अतिरिक्त पुरुषोत्तमदास-टण्डन जयकर और श्यामा-प्रसाद-मुखर्जी जैसे हिन्दू रुढिवादी-सभा मे उपस्थित ही थे।"

सदस्यों की दोहरी भूमिका—सविधान-निर्मात्री-सभा से 12 केबीनेट स्तर के, 3 राज्य-स्तर के मत्री एव एक उपमत्री था। डा० राजेन्द्र-प्रसाद और मावलकर को छोड़कर सभी सदस्य दोहरी-भूमिका निभाते थे। शासन चलाने वाले और *सविधान बनाने वालो के एक होने के कारण सविधान मे व्यावहारिकता अधिक आई।*

नेतृत्व व नीति-निर्माण—संविधान-सभा का नेतृत्व व सघीय-शासन का स्वरूप उनके आन्तरिक सम्बन्धो का परिणाम थी। नेहरू-पटेल-प्रसाद और आजाद राष्ट्रीय आन्दोलन के बाद भी महत्वपूर्ण-भूमिका निभाते थे। सब के सब कांग्रेस की सर्वोच्च-परिषद्–कार्य-समिति के सदस्य थे और काग्रेस के अध्यक्ष पद पर काम कर चुके थे एव अन्तरिम सरकार मे मुख्यमंत्री, प्रधानमत्री या उप-प्रधानमत्री आदि थे। निम्न-तालिका से सविधान-सभा, काग्रेस और सरकार तीनो मे उनकी उपस्थिति से एक-रूपता का आभास मिलता है—

नाम	समितियों की संख्या	कांग्रेस में उनकी स्थिति	
राजेन्द्र-प्रसाद	2	कार्य-समिति के सदस्य,	संविधान-निर्माणी-सभा के अध्यक्ष
मौलाना आजाद	4	—	मंत्री
सरदार पटेल	4	—	उप-प्रधान-मंत्री
श्री नेहरू	3	—	प्रधान-मंत्री
पन्त	3	—	यू. पी. के मुख्य-मंत्री
सीतारमैया	4	—	—
अय्यर	5	—	—
आयगार	5	—	—
के. एम. मुंशी	6	—	मंत्री
अम्बेडकर	3	—	मंत्री
सत्यनारायण सिंहा	2	—	मंत्री व मुख्य-सचिव

सदस्यों की योग्यता—कुल मिलाकर संविधान-सभा मे 20 महत्वपूर्ण सदस्य थे जिनमे व्यक्तित्व, योग्यता और पृष्ठभूमि का मौलिक अन्तर था। सभी स्नातक थे, नेहरू, पटेल, अम्बेडर और आजाद बाहर के विश्व-विद्यालय से डिग्री प्राप्त थे। 12 वकील थे 2 उनके पास कानून की डिग्री थी। एक चिकित्सक, दो शिक्षक, तीन सिविल शासन के उच्च-पदाधिकारी, एक व्यवसायी था। अम्बेडकर को नेहरू ने मंत्री-पद के लिए निमन्त्रित किया और उन्होने सवर्ण-जातियो के हितो की रक्षा करने के लिये इसे स्वीकार कर लिया। बी. एन. राव भी सभा के सभी सदस्यों की अपेक्षा संवैधानिक उलझनों को सुलझाने का अधिक ज्ञान रखते थे। सभा के कुछ व्यक्तियों ने 1935 के अधिनियम के निर्माण मे विशेष सहयोग दिया था। श्री नेहरू अधिक व्यावहारिक थे, उन्होने सभा को मानवतावादी मस्तिष्क और राजनीतिक सिद्धान्तो का अध्ययन दिया। सभी सदस्य राष्ट्रीय आदर्शों की प्राप्ति के लिए एकता की भावना और राष्ट्रीय-सजगता से ओत-प्रोत थे।

सभा में निर्णय सर्वसम्मति से लिये जाते थे। मतभेद होने पर डा० राजेन्द्र-प्रसाद बिना मतदान के उसे स्वीकार करवाने की चेष्टा करते थे। संविधान-निर्माण में कुछ विरोध होने पर भी यह अन्त मे जनकल्याण हेतु बना।

संविधान-सभा का योगदान—

1. 26 नवम्बर 1946 को संविधान-सभा द्वारा पारित वर्तमान संविधान द्वारा विश्व के सबसे बड़े जनतंत्र भारत की स्थापना हुई।

2. संविधान सभा की दूसरी विशेषता सर्वसम्मति थी। इससे सभा की एकता, आदर्शवाद और राष्ट्रीय सहयोग का परिचय मिलता है। विभिन्नता में एकता के सफल प्रयास किये गये।

3. सौमनस्य, सद्भाव और समन्वय की भावना ने एक अद्भुत परिचय दिया। रियासतों, अल्पसंख्यकों एवं भाषा की समस्या को जिस रूप मे सुलझाया वे इस भावना के सफल परिचायक थे।

4. विदेशी संविधानों की नकल करने पर भी उसका मौलिक स्वरूप भारतीय था। संविधान के अपने अलग भारतीय सिद्धान्त थे।

5. संविधान द्वारा अपनाई गई संशोधन-प्रक्रिया भी अभिन्न है। इससे एक ओर संघवाद और दूसरी ओर ब्रिटिश संसदीय जनतंत्र को अपनाया गया।

6. संविधान-सभा ने राष्ट्रीय उद्देश्यों की पूर्ति के लिए वैदेशिक साधनों को अपनाया।

अन्त मे एक जनतंत्रात्मक संविधान का निर्माण किया गया जो कि विश्व के लिए एक आदर्श प्रस्तुत करता है।

(B) भारतीय राजनीतिक व्यवस्था का स्वरूप

प्रश्न 13—"भारतीय संविधान उधार का थैला है। इसी कारण यह पेचीदा, जटिल तथा अस्पष्ट हो गया।" विवेचना कीजिए।

अथवा

भारतीय-संविधान के स्रोतों के स्वरूप की व्याख्या कीजिये। साथ ही संशोधन की प्रक्रिया, न्यायिक पुनर्विचार और अंग्रेजी राजनीतिक व्यवस्था के भारत के संविधान के स्रोतों के रूप में योगदान बताइये।

अथवा

"प्रस्तावना, जो संविधान की भूमिका है, संविधान के स्रोत, अनुशक्ति, ढांचा, उद्देश्य तथा विषय-वस्तु की चर्चा करता है।" समीक्षा कीजिए।

अथवा

"जेनिंग्स का यह विचार है कि भारतीय-संविधान न केवल अपने संशोधन की प्रक्रिया के कारण बल्कि उसके विस्तार के कारण भी अचल है, और उसका विस्तार अधिकांशतः 1935 के संविधान के प्रभाव के कारण है।" तर्क सहित व्याख्या कीजिए।

उत्तर—पृष्ठभूमि—भारतीय-संविधान के स्रोतों की पृष्ठभूमि अधिकतर विदेशी संविधान ही है। यद्यपि संविधान में अनेक मौलिक स्रोतों का भी उल्लेखनीय स्थान रहा है। यही कारण है कि स्रोतों के स्वरूप के सम्बन्ध मे विभिन्न मत रहे हैं। कुछ विद्वानो ने केवल विदेशी तत्वो को ही स्रोत मानकर, संविधान की आलोचना स्वरूप, इसे भानुमती के कुनवे की भांति गड़बड़ (Hotch-potch) अथवा वर्णसंकर (Hybrid) कहा है। एक अन्य आलोचक ने कहा है कि "यह उधार ली गई वस्तुओं का सकलन मात्र है। इसी कारण यह भद्दा, जटिल और बेमेल हो गया है।" इसके विपरीत कुछ विचारको का कहना है कि यद्यपि भारतीय संविधान के स्रोत है तो विदेशी संविधान ही किन्तु उन स्रोतो के स्वरूप में भारतीय परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन कर लिया गया है। उन्हे यहाँ की भूमि अथवा वातावरण के अनुरूप ढाला गया है, साथ ही विभिन्न देशो का अनुभव भी उन व्यवस्थाओं को उपयोगी ठहरा चुका है। जैसा कि B. N Rao ने "Indian's constitution in the making" में कहा है, "Undoubtedly it is true that the (draft) constitution has borrowed from other constitutions and not only from the Act of 1935 But so long as the borrowings have been adopted to India's peculiar circumstances, they can not in themselves be said to constitute a defect Most modern constitutions do make full use of the experience of other countries, borrow whatever is good from them and reject whatever is unsuitable To profit from the experiences of one's own is the path of wisdom."

वस्तुत: हमारा संविधान बहुत ही बढ़िया सार-सग्रहवाद का परिचायक है। सग्रह करने मे हमारे संविधान-निर्माताओ को कोई सकोच भी नही हुआ क्योंकि 'हमारे संविधान-निर्माताओं का उद्देश्य कोई मौलिक या अद्भुत संविधान तैयार करना नही था। वे तो केवल ऐसा संविधान चाहते थे कि जो अच्छा हो और जिससे काम चलता रह सके।" (डॉ० एम पी० शर्मा)।

1935 के एक्ट का योग—इस प्रकार संविधान के स्रोतों के स्वरूप के सम्बन्ध मे दूसरा मत ही सत्य के अधिक निकट है। जैसे कि भारतीय संविधान का प्रमुख स्रोत 1935 का अधिनियम है। पंजाबराव देश मुख का तो यहाँ तक कहना है कि "यह संविधान सारत. 1935 का गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया एक्ट ही है। इसमे केवल वयस्क मताधिकार और जोड दिया गया है।" किसी ने इसे "1935 के अधिनियम का एक शानदार संस्करण" कहा है। लेकिन वास्तव मे इन दोनों की भावना मे बहुत अन्तर है। 1935 का अधिनियम एक विदेशी ससद की कृति था और उसे 'पूर्ण स्वराज्य' के लिए शोर मचाती हुई जनता पर उसके न चाहते हुए भी लगभग थोप सा दिया गया था किन्तु वर्तमान भारतीय संविधान इसके विपरीत

जनता के प्रतिनिधियों की आवाज का द्योतक है। 1935 के अधिनियम में 'पृथक निर्वाचन प्रणाली' की जो गंदी व्यवस्था थी उसे भारत में वास्तविक लोकतंत्र की वृद्धि में बाधक होने के कारण उसके स्थान पर 'संयुक्त निर्वाचन प्रणाली' रखी गई। साथ ही यहाँ की अल्प-संख्यक जातियों के लिए सुरक्षित स्थानों की व्यवस्था की गई। 1935 के अधिनियम में महाराज्य पाल (Governor General) और राज्यपाल को अनेक विशेष अधिकार व व्यक्तिगत निर्णय से कार्य करने की शक्ति प्राप्त थी किन्तु वर्तमान संविधान में राष्ट्रपति व राज्यपालों को सवैधानिक अध्यक्षों की ही स्थिति प्रदान की गई है।

अमरीकी संविधान का अनुदाय—अमरीकी संविधान से प्रस्तावना, मौलिक उच्चतम न्यायालय द्वारा की व्याख्या, उपराष्ट्रपति का स्थान एवं कृत्य तथा संशोधन-प्रक्रिया आदि ली गई हैं। लेकिन सभी को अमरीकी ढंग से न अपना कर उनका एक प्रकार से 'भारतीय-करण' कर लिया गया है। उदाहरण के लिए संशोधन प्रक्रिया में ही कुछ नम्य बनाया गया है। अमरीका में जहाँ कम से कम तीन चौथाई राज्यों द्वारा अनुसमर्थन अपेक्षित है वहाँ भारत मे आधे राज्यों की स्वीकृति ही पर्याप्त है।

संशोधन-प्रक्रिया—संशोधन-प्रक्रिया का संविधान के स्रोत की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण स्थान है, क्योकि वर्तमान काल के अधिकाश संविधानों खासकर लिखित एवं संघात्मक संविधानों के विकास का सर्वप्रमुख स्रोत संशोधन की प्रक्रिया है। इसीलिए संशोधन-प्रक्रिया को प्रत्येक लिखित संविधान का अनिवार्य अंग माना जाने लगा है। गार्नर ने भी संविधान के लिए इसके महत्व को इस प्रकार व्यक्त किया है कि "कोई भी लिखित संविधान-संशोधन की विधि के उपबंधों के बिना पूर्ण नहीं है। मानव समाजों को समय बीतने के साथ-साथ उन्नत और विकसित होना चाहिए, और यदि उनके आंतरिक विकास की आवश्यकता के अनुसार ऐसे सवैधानिक समन्वय करने की धारा नहीं बनाई जाती तो वे गतिहीन या अप्रगतिकारी हो जायेंगे।" भारतीय संविधान के निर्माता भी संशोधन की अनिवार्यता से परिचित थे। किन्तु वे चाहते थे कि संशोधन-प्रक्रिया इतनी जटिल भी न हो कि संविधान समयानुसार परिवर्तित न हो सके और न ही इतनी सरल हो कि संविधान शासक दल के हाथों का खिलौना बन जाये। अत. उन्होंने मध्यम मार्ग अपनाया और संशोधन के लिए तीन प्रणालियों को अपनाया—(क) साधारण विधि संशोधन की प्रक्रिया (ख) संसद के विशिष्ट बहुमत द्वारा संशोधन की प्रक्रिया (ग) राज्य विधान-मंडलों की स्वीकृति से संशोधन प्रक्रिया।

तीनों विधियों के अपनाने से ब्रिटिश संशोधन प्रक्रिया की नम्यता के साथ अमरीकी संशोधन-प्रक्रिया की जटिलता की त्रुटियों से भी वह मुक्त हो गया है और साथ ही उसमें मौलिकता का समावेश भी हुआ। जैसे (1) संसार के अन्य संघात्मक

संविधानों के विपरीत, भारत के संविधान में संशोधन के लिए किसी पृथक् निकाय की व्यवस्था नहीं की गई। संविधान के निर्माण की शक्ति संघ के सामान्य विधान-मण्डल को प्रदान की गई (2) ऐसे उपबन्ध जो राज्यों के विधान-मण्डलों की अनुमति को भी आवश्यक समझा गया। (3) संविधान के संशोधन सम्बन्धी विधेयकों को पेश करने से पहले राष्ट्रपति की स्वीकृति आवश्यक नहीं है।

अब तक हुए विभिन्न संशोधनों द्वारा संविधान में अनेक नई व्यवस्थाओं को सम्मिलित किया गया। उदाहरणार्थ नौवें संशोधन द्वारा जमींदारी उन्मूलन कानूनों से सम्बन्धित व्यवस्था की गई। इसके द्वारा अनुच्छेद 31, 31 क और 305 में संशोधन किये गये। अनुच्छेद 31 (2) के संशोधन में यह व्यवस्था की गई कि जब राज्य किसी निजी सम्पत्ति का किसी सार्वजनिक कार्य के लिए अनिवार्य रूप से अभिग्रहण करता है, तब अधिकृत विधान द्वारा निर्धारित मुआवजे के मान को किसी न्यायालय मे चुनौती नही दी जायेगी। अनु० 305 के संशोधन के आधार पर संसद को या राज्य-विधान-मडलों को यह अधिकार दिया गया कि वे व्यापार या वाणिज्य के किसी विशेष क्षेत्र मे राज्य का एकाधिकार शुरू करने के लिए कानून बना सकते हैं। इनसे राज्य को समाज-कल्याण के कार्यों मे व्यापक अधिकार प्राप्त हुए। 1956 के सातवें संशोधन द्वारा राज्यो के पुनर्गठन सम्बन्धी कुछ व्यवस्थाएं की गई। ग्यारहवां संशोधन राष्ट्रपति व उप-राष्ट्रपति के निर्वाचन के लिए दोनों सदनो के सदस्यो की संयुक्त बैठक की आवश्यकता समाप्त कर दी गई। इस प्रकार संशोधन प्रक्रिया के कारण अनेक संशोधन सम्भव हुए जिनका स्रोतों की दृष्टि से महत्वपूर्ण योगदान है। क्योंकि उन्होने भी संविधान-निर्माण मे योग दान दिया है।

न्यायिक पुनरावलोकन—इसी प्रकार एक अन्य व्यवस्था न्यायिक पुनर्विचार की है जिसने कि स्रोतों की दृष्टि मे महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। यह व्यवस्था अमरीकी संविधान से ली गई है किन्तु भारतीय सर्वोच्च न्यायालय केवल उन्ही कानूनों को अवैध घोषित कर सकता है जो कि संविधान के उपबन्धो के अनुकूल न हो जब कि अमरीका मे सर्वोच्च न्यायालय किसी भी कानून को अनुचित प्रतीत होने पर अवैध घोषित कर सकता है। इसीलिए अमरीकी संविधान के सम्बन्ध मे न्यायाधिपति ह्यूज्स ने कहा था, "हम एक संविधान के अधीन तो है, किन्तु वह संविधान वह है, जो कि न्यायाधीश बताते हैं कि वह यह है।" क्योकि न्यायिक पुनर्विचार की शक्ति के कारण अमरीका का सर्वोच्च न्यायालय लगभग एक अविराम 'संवैधानिक सम्मेलन' के रूप मे बैठता है और वह किसी अनुसमर्थन के लिए अपने प्रस्ताव पेश किये बिना ही मूल कानून को बदल सकता है। भारतीय सर्वोच्च न्यायालय इस सीमा तक तो संविधान का निर्माता नही है किन्तु कुछ सीमा तक उसके योग-दान को भी अस्वीकार नही किया जा सकता। असंवैधानिक होने पर वह कानूनों को तो अवैध ठहरा ही सकता है, साथ ही मूल अधिकारों पर भी 'युक्ति-युक्त' प्रतिबन्ध लगा

सकता है। इस प्रकार संसद द्वारा बनाये गये विभिन्न कानून जो कि सविधान के निर्माण का स्रोत है, उनकी उपयुक्तता की जाँच करके न्यायिक पुनर्विचार का भी स्रोतो के लिए महत्वपूर्ण योगदान हो जाता है। इस सम्बन्ध में दिये गये अनेक न्यायिक निर्णय संविधान के अन्यतम अग बन जाते है।

ब्रिटिश संविधान का अनुदाय—ब्रिटिश सविधान से भी अनेक चीजें ली गई है। इनमें ब्रिटिश संसदीय व्यवस्था प्रमुख है। इसका प्रमुख कारण था कि ब्रिटिश सरकार ने अधिनियमों द्वारा क्रमशः संसदीय सस्थाओं की स्थापना की थी और नये सविधान के निर्माण-काल तक उनकी जडे जम चुकी थी। ब्रिटिश-पद्धति के आधार पर ही भारत मे भी विधान-मण्डल को जो जनता की इच्छा का प्रतिनिधित्व करता है, कार्यपालिका के ऊपर सर्वोपरिता प्राप्त है, क्योकि मन्त्रिमण्डल विधान-मण्डल के प्रति उत्तरदायी होता है। संसदीय व्यवस्था से सम्बन्धित अनेक बातों के लिए ब्रिटिश राजनीतिक व्यवस्था को अपनाया गया है। इस प्रकार यह स्वय अपने आप में भारतीय संविधान का एक स्रोत है। निर्देश के लिये भी इसी का अनुसरण किया जाता है। धारा 105 (3) मे लिखा है कि जब तक भारतीय ससदीय विशेषाधिकार के सम्बन्ध में कोई नियम नही बनाये तब तक ब्रिटिश ससद के सदस्यो को प्राप्त विशेषाधिकार लागू समझे जायेंगे। कभी-कभी ब्रिटिश संविधान के सिद्धांत स्वतः गर्भित (Implied) होंगे, जैसे न्यायालयों द्वारा जारी किये गये लेख (Writs) से सम्बन्धित नियम। ब्रिटेन मे प्रधान-मन्त्री को अभिसमयों द्वारा जो अधिकार व कर्त्तव्य प्राप्त हैं वे ही परम्पराएँ भारत मे भी व्यवहृत हैं। डॉ० एम. पी. शर्मा ने भी इस सम्बन्ध में कहा है, "सच तो यह है कि मंत्रिमडलीय या ससदीय-शासन कुछ ऐसी संवैधानिक परम्पराओं या प्रथाओ पर आधारित होना है,जो सामान्यत. मान्यता प्राप्त होती है और जिनकी चर्चा संविधान मे अनुच्छेदो के रूप मे करने की आवश्यकता नही समझी जाती। इसलिये संविधान की मत्रि-परिषद् सम्बन्धी धाराओं या व्यवस्थाओं की अन्य देशों के संविधानो में प्रचलित प्रथाओ के आधार पर व्याख्या करनी पड़ी है, विशेष रूप से ब्रिटेन की प्रथाओं के अनुसार जो कि संसदीय शासन का परम्परागत घर है।" इस प्रकार ब्रिटिश राजनीतिक व्यवस्था भारतीय संविधान का एक निरन्तर स्रोत है।

किन्तु अन्य स्रोतो की भाँति इस व्यवस्था को भी कुछ परिवर्तित स्वरूप में अपनाया गया है। जैसे ब्रिटेन का प्रधान-मन्त्री अपने सहयोगियों को चुनता है और उन्हें विभाग सौंपता है, परन्तु भारत मे (अनु० 75 के अनुसार) इस प्रकार की नियुक्तियाँ करने और सरकार के काम को सुविधापूर्वक चलाने के लिये और इस प्रकार के काम-काज का मंत्रियों मे बँटवारा करने के लिये नियम बनाने की शक्ति राष्ट्रपति को दी गई है। (यद्यपि वास्तव में राष्ट्रपति प्रधानमंत्री की सलाह से ऐसा करता है। इसके अलावा ब्रिटेन की केबिनेट के सदस्य वहाँ की ..ालि..

से चुने जाते हैं और केबिनेट के किसी भी सदस्य को उस सदन में बैठने का अधिकार नहीं है, जिसका कि वह सदस्य न हो। लेकिन भारत में मन्त्रियों को संसद-सदस्यों के प्रश्नों का उत्तर देने के लिये दोनों सदनों में जाना पड़ता है। साथ ही यह आवश्यक नहीं है कि कोई मंत्री अपनी नियुक्ति के समय संसद का सदस्य अवश्य ही हो, वह छः महीने तक संसद का सदस्य बन सकता है। इनके अतिरिक्त और भी अनेक भिन्नताएँ ब्रिटिश व भारतीय संसदीय पद्धति में पाई जाती हैं।

आयरलैण्ड व कनाडा के संविधान का योग—आयरलैंड के संविधान से राज्य के नीति-निर्देशक तत्व, राष्ट्रपति के निर्वाचन में निर्वाचक-मण्डल की व्यवस्था और द्वितीय सदन में साहित्य, कला और विज्ञान आदि क्षेत्रों में प्रसिद्धि प्राप्त व्यक्तियों के मनोनयन की प्रणाली आदि ली गईं हैं। संविधान के संघीय स्वरूप पर कनाडा के संविधान का प्रभाव है। किन्तु उपर्युक्त सभी संविधानों के विभिन्न प्रावधानों को सम्पूर्ण रूप में या उसी रूप में नहीं अपनाया गया है वरन भारत के अनुकूल तत्वों को ही उनमें से लिया गया है और साथ ही इनके अावश्यक, दोषपूर्ण तथा अनुपयुक्त तत्वों को ग्रहण नहीं किया गया है।

अतः निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि भारतीय संविधान के स्रोतों का मूल तो विदेशी संविधान है, लेकिन उन्हें मौलिक स्वरूप में ग्रहण किया गया है।

प्रश्न 14—भारतीय संविधान द्वारा किस प्रकार विधि के शासन की स्थापना की गई ?

अथवा

भारत में विधि का शासन ब्रिटिश-शासन-व्यवस्था की कहाँ तक नकल है ?

अथवा

'कानून के समक्ष समता' विधि के शासन की देन है। व्याख्या कीजिये।

उत्तर—भूमिका—विधि का शासन अंग्रेजी संविधान की एक आधारभूत विशेषता है। अमरीका और भारत की भाँति इंग्लैण्ड में संविधान नागरिकों को विशिष्ट अधिकार नहीं देता। वहाँ ऐसा कोई संसदीय अधिनियम भी नहीं है जो जनता के मूल अधिकारों को निर्धारित करता हो। किन्तु वहाँ नागरिकों के अधिकारों की रक्षा-विधि के शासन द्वारा की गई है।

भारतीय संविधान में भी यद्यपि 'विधि का शासन' शब्द का कहीं प्रयोग नहीं किया गया है, किन्तु व्यवहार में, मूल अधिकारों द्वारा इसकी स्थापना की गई है।

अर्थ—लार्ड हीवर्ट के अनुसार, विधि के शासन का अर्थ, "व्यक्तियों के अधिकारों का निर्धारण या निर्वहन करने के लिए विधि की प्रधानता या सर्वोच्चता है। यह स्वेच्छाचार या अन्य किसी पद्धति से भिन्न है।" यह उल्लेखनीय है कि जब शासन की शक्तियाँ, मनमाने ढंग से नहीं बल्कि कुछ सुनिश्चित और बंधनकारी नियमों के अनुसार प्रयुक्त होती है, तब कहा जाता है कि उस शासन की प्रजा विधि के शासन के [illegible]त रह रही है। जीवन में ये-दशाएँ केवल वहीं प्राप्त की जा सकती हैं, जहाँ

विधि के सम्मुख समानता हो और विधि को सर्वोच्च, एक रूप तथा सार्वभौम माना जाता हो। दूसरे शब्दों मे "विधि के शासन के अन्तर्गत विधि के स्वीकृत सिद्धान्तों और वैधानिक दृष्टि से सक्षम अधिकारियो की कार्यवाही के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार से न तो राज्य द्वारा मनमाने दायित्वो का आरोप हो सकता है, न सपत्ति मे हस्तक्षेप हो सकता है और न वैयक्तिक स्वतत्रता को कम किया जा सकता है।" विधि के शासन की व्यवस्था फ्रास की प्रशासनिक कानून की व्यवस्था का निषेध करती है जिसके अनुसार दो प्रकार के कानून लागू होते है।

भारतीय संविधान में विधि का शासन––भारतीय सविधान के अनु. 14 मे कहा गया है कि "भारत के राज्य-क्षेत्र मे राज्य किसी भी व्यक्ति को कानून के समक्ष समानता अथवा कानून के समान सरक्षण से वचित नही करेगा।"

'कानून समक्ष समानता' विधि के शासन की ही देन है। इसका अर्थ है कि कानून के समक्ष सभी व्यक्ति समान हैं। इससे राज्य पर यह बधन लगाया गया है कि वह सभी व्यक्तियों के लिए एक सा कानून बनाएगा तथा उन्हें एक समान लागू करेगा। कानून छोटा-बडा, ऊँच-नीच या छूत-अछूत किसी प्रकार भेदभाव नही करेगा। धर्म, जाति, कुल, लिंग तथा जन्म-स्थान के आधार पर कानून किसी व्यक्ति को प्रश्रय नही देगा। पश्चिमी बंगाल बनाम अनवर अली के मुकद्दमे मे सर्वोच्च न्यायालय ने यह स्पष्ट शब्दों में कहा कि "समान परिस्थितियो मे सभी व्यक्तियों के साथ कानून का व्यवहार एक सा होना चाहिए।" इस प्रकार अनु. 14 ऐसी परिस्थितियों की स्थापना करना चाहता है जिसके अन्तर्गत स्वेच्छाचारी एव भेदभावपूर्ण कानूनो की रचना नही हो पाएगी, न कानूनों के प्रयोग मे ही भेदभाव बरता जा सकेगा। भारत मे निवास करने वाले सभी व्यक्तियो को यह अधिकार समान रूप मे प्राप्त है।

लेकिन कानून के समक्ष समता का यह अर्थ नही है कि राज्य किसी विशेष उद्देश्य से नागरिको का उचित तथा तर्क-संगत वर्गीकरण नही करेगा। न्यायाधीश दीक्षित के शब्दो मे "कानून के समक्ष समता का अर्थ व्यक्तियों की पूर्ण समानता नही है वल्कि इसका अर्थ यह है कि जन्म, जाति या अन्य समान कारणों के आधार पर किसी व्यक्ति को कोई विशेषाधिकार प्राप्त नही होगा। समान संरक्षण का अर्थ यह है कि स्वयं कानूनो के प्रशासन मे मनमाना भेदभाव नही किया जाएगा।" चिरंजीव लाल चौधरी बनाम भारत सघ' नामक मुकद्दमा, इस संबंध में उल्लेखनीय है। इस मुकद्दमे मे सरकार पर यह आरोप लगाया गया कि शोलापुर कताई एवं बुनाई अधिनियम 1950 द्वारा सिर्फ एक कम्पनी के नियन्त्रण एवं व्यवस्था को अपने हाथ में लेकर सरकार ने भेदभाव का बर्ताव किया है जो संविधान के अनुच्छेद 14 के विरुद्ध है। लेकिन सर्वोच्च न्यायालय ने बहुमत से यह निर्णय दिया कि आवेदक द्वारा प्रस्तुत गए तथ्य यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त नही कि विधायिका ने कानून बनाने

इस खास कम्पनी को चुनकर अयुक्ति संगत भेदभाव किया है। केदारनाथ बनाम पश्चिमी बंगाल सरकार नामक मुकद्दमें में भी सर्वोच्च न्यायालय ने अपना विचार व्यक्त किया कि "यह पूर्णतया निश्चित हो गया है कि अनु. 14 द्वारा प्रदत्त कानून के समान संरक्षण का अर्थ यह कदापि नहीं है कि सभी कानून सामान्य प्रकृति के हों तथा उनका प्रभाव सर्वव्यापी हो तथा विधि-निर्माण के हेतु राज्य को शक्तियों या वस्तुओं में भेदभाव तथा वर्गीकरण करने का अधिकार नहीं है।"

परन्तु किसी प्रकार का भेदभाव अथवा वर्गीकरण मनमाना तथा अयुक्ति संगत नहीं होना चाहिए तथा उसका किसी व्यक्ति के ऊपर विपरीत प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए।

विधि-शासन की दूसरी विशेषता व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को कायम रखना है। अनु. 19, 20, 21 और 22 में उल्लिखित स्वतन्त्रता के अधिकार द्वारा इसकी पूर्ति की गई है। इन्हें 'व्यक्ति स्वातन्त्र्य का अधिकार-पत्र' कहा गया है। इनमें अनु. 19 सबसे महत्वपूर्ण है जिसके खण्ड (1) द्वारा निम्न सात स्वतन्त्रताएं प्रदान की गई हैं—

(क) वाक् स्वातंत्र्य एवं अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य।

(ख) शांतिपूर्ण एवं निरायुध सम्मेलन।

(ग) संस्था या संघ बनाना।

(घ) भारतीय राज्य-क्षेत्र में अबाध संचरण की स्वतंत्रता।

(ङ) भारतीय राज्य-क्षेत्र के किसी भी भाग में निवास करने तथा बसने की स्वतन्त्रता।

(च) सम्पत्ति के अर्जन, धारण एवं व्यय करने की स्वतन्त्रता।

(छ) कोई वृत्ति, व्यापार, उपजीविका या कारोबार करने की स्वतन्त्रता।

लेकिन स्वतन्त्रताओं के उपर्युक्त अधिकार निर्बाध नहीं हैं। अनु 19 के खण्ड (2) से (6) तक कुछ अपवादों का उल्लेख किया गया है। ये अपवाद इन अधिकारों को सीमित कर देते हैं। लेकिन केवल वैध कानून द्वारा ही इन अधिकारों को सीमित किया जा सकता है। बिना कानूनी अधिकारों के कार्यपालिका इन पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगा सकती है।

जैसे वाक् स्वातन्त्र्य को और अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य को अपमान लेख, अपमान वचन, न्यायालय अपमान, शिष्टाचार एवं सदाचार के विरुद्ध होने तथा राज्य की सुरक्षा के हित में, सार्वजनिक सुरक्षा के हित में और अपराधों को उत्साहित न करने के हित में राज्य द्वारा सीमित किया जा सकता है। किन्तु ये सभी 'युक्ति-युक्त निर्बन्धन' होने चाहिएं। अतः जो विधि स्वेच्छाचारी ढंग से अथवा अत्यधिक मात्रा में अधिकार पर अतिक्रमण करे, वह 'युक्ति-युक्त' नहीं हो सकती।

अनु. 20 में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के अन्तर्गत अपराधों के लिए दोष-सिद्धि के य में संरक्षण की व्यवस्था की गई है। अनु० 20 (1) के अनुसार 'कोई व्यक्ति

किसी अपराध के लिए दोष-सिद्ध नही ठहराया जाएगा जब तक कि उसने अपराध करने के समय किसी प्रवृत्त विधि का अतिक्रमण न किया हो और कोई व्यक्ति उससे अधिक दण्ड का पात्र होगा जो उस अपराध के करते समय प्रवृत्त विधि के अधीन दिया जा सकता था।

2. कोई भी व्यक्ति एक ही अपराध के लिए एक बार से अधिक दण्डित और अभियोजित नही किया जाएगा।

3. किसी अपराध मे अभियुक्त व्यक्ति को स्वयं अपने विरुद्ध साक्षी होने के लिए बाध्य न किया जाएगा।

यह खण्ड ब्रिटिश सामान्य विधि के इस तथ्य पर आधारित है कि कोई व्यक्ति तब तक निर्दोष है जब तक कि उसका दोष सिद्ध नही हो जाता। फ्रांस तथा अन्य यूरोपीय देशों में यह सिद्धान्त प्रचलित नही है।

अनुच्छेद 21 जीवन तथा दैहिक स्वातंत्र्य को सरक्षण प्रदान करता है। इसके अनुसार "किसी व्यक्ति को अपने प्राण एव दैहिक स्वतन्त्रता से विधि द्वारा पुरस्थापित प्रक्रिया को छोड़कर अन्य किसी प्रकार भी वंचित नही किया जाएगा।" दैहिक स्वतंत्रता का अर्थ है "शारीरिक कष्ट, नजरबन्दी तथा कैद से सुरक्षा। इस अनुच्छेद मे प्रयुक्त 'विधि सम्मत प्रक्रिया' का अर्थ है कि जब विधान-पालिका जीवन तथा दैहिक स्वतंत्रता के अपहरण के सम्बन्ध मे कोई कानून बना देता है तो न्यायालय उसे अवैध नही ठहरा सकता। अत. ये निर्बाध नही है, विधि सम्मत प्रक्रिया (Procedure established by law) द्वारा इस अधिकार को छीना जा सकता है फिर भी कानून की दृष्टि से इस अधिकार को पर्याप्त संरक्षण प्राप्त है। अनुच्छेद 22 मे नजरबन्दी तथा बंदीकरण से सरक्षण प्रदान किया गया है।

विधि-शासन की तीसरी विशेषता सम्पत्ति की स्वतन्त्रता है, जिसका उल्लेख अनुच्छेद 31, 31 (1) और 31 (2) मे किया गया है। अनुच्छेद 31 खण्ड (1) के अनुसार कोई व्यक्ति विधि के प्राधिकार के बिना सम्पत्ति से वंचित नही किया जायगा।

केवल कानून के प्राधिकार द्वारा, सार्वजनिक प्रयोजन के लिए तथा कानून द्वारा निर्धारित क्षतिपूर्ति की व्यवस्था पर ही किसी निजी सम्पत्ति को राज्य अर्जित या अधिकृत कर सकता है। क्षतिपूर्ति की मात्रा विधान-मण्डल द्वारा निर्धारित की जाती है तथा उसे न्यायालय मे चुनौती नही दी जा सकती।

निष्कर्ष रूप मे उपर्युक्त अधिकारो द्वारा विधि-शासन की सम्पूर्ण अवस्थाओं को प्रदान करने का प्रयत्न किया गया है। साथ ही इनकी रक्षा के लिए संवैधानिक उपचारो का अधिकार भी दिया गया है।

लेकिन निवारक निरोध कानून और राष्ट्रपति की संकटकालीन शक्तियाँ, ये दो व्यवस्थाएँ विधि-शासन के लिए घातक मानी जाती है।

यद्यपि ब्रिटेन में संसद को शान्तिकाल में भी निवारक निरोध सम्बन्धी विधि निर्मित करने की शक्ति प्राप्त है, लेकिन उसने इस शक्ति का कभी प्रयोग नहीं किया। केवल युद्धकाल में प्रथम और द्वितीय महायुद्ध के समय में—संसद ने ऐसे कानून बनाए, जिससे सार्वजनिक सुरक्षा तथा देश की रक्षा के हितार्थ राज्य-सचिव लोगों को न्यायालय की सजा के बिना कैद में रख सकता था। लेकिन भारतीय संविधान युद्ध और शान्ति दोनों समयों के लिए निवारक निरोध की व्यवस्था करता है। पी एन जोशी के शब्दों में "भारत में निवारक निरोध एक संकटकालीन उपबन्ध है, लेकिन यह संकटकाल तक ही सीमित नहीं है। इसी आधार पर इसे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का विरोधी माना गया है।

निवारक निरोध अधिनियम, 1950 द्वारा केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों को यह अधिकार दिया गया है कि यदि उन्हें संतोष अथवा विश्वास हो जाय कि किसी व्यक्ति के कार्य (1) भारत की सुरक्षा, अन्य देशों के साथ भारत के सम्बन्ध तथा भारत की शान्तिपूर्ण स्थिति या (2) राज्य की शांति एवं सुरक्षा या (3) देश के लिए आवश्यक पूर्ति तथा सेवाएं बनाए रखने के विरुद्ध है तो वे उसे निवारक निरोध में रख सकती है।

संविधान सभा में इसके उपबन्धों की बड़ी कड़ी आलोचना की गई थी। अनेक सदस्यों ने इसे व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर एक गंभीर खतरा बतलाया। बख्शी टेकचन्द ने इन्हें 'दमन तथा स्वतन्त्रता हनन का पत्र कहा। न्यायाधीश महाजन ने कहा था "निवारक निरोध कानून प्रजातान्त्रिक संविधानों के प्रतिकूल है एवं विश्व के अन्य किसी भी प्रजातान्त्रिक राज्य में वे नहीं पाये जाते हैं....यह आश्चर्य की बात है कि इसे भारतीय संविधान ने मौलिक अधिकारों के अध्याय में स्थान दिया है।"

किन्तु वास्तव में, जितना भय आलोचकों ने दिखलाया है उतना खतरा उससे नहीं है। "इस भयानक उपकरण, जिसका प्रजातांत्रिक संविधान में कोई स्थान नहीं है, जो मौलिक अधिकार की पवित्रता के प्रतिकूल है और जो प्रस्तावना में विहित प्रतीक्षाओं के विरुद्ध है, का व्यवधान उन समाज-विरोधी तथा विध्वंसकारी तत्वों के विरुद्ध किया गया है जिनसे नवजात प्रजातंत्र के राष्ट्रीय हित को खतरा है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर और इस तरह विधि-शासन पर इससे कुछ अंशों में तो प्रतिबन्ध लगता ही है।

राष्ट्रपति की संकटकालीन शक्तियों की विधि शासन की दृष्टि है। इसलिए आलोचना की जाती है कि संविधान द्वारा प्रदत्त मौलिक अधिकारों को यह विनष्ट कर देती है। राष्ट्रपति द्वारा संकटकाल की उद्घोषणा करने पर अनुच्छेद 19 में वर्णित सात स्वतन्त्रताएं स्वतः निलम्बित हो जाती हैं तथा संवैधानिक उपचारों के अधिकार से नागरिकों को विशेष अध्यादेश द्वारा वंचित किया जा सकता है।

यद्यपि सं रा. अमरीका में भी कांग्रेस तथा राष्ट्रपति को मौलिक अधिकारों को निलंबित करने की शक्ति दी गई है, लेकिन सर्वोच्च न्यायालय राष्ट्रपति तथा

काग्रेस के कार्यों को, अगर उचित समझे, अवैध घोषित कर रद्द कर सकता है। बन्दी प्रत्यक्षीकरण के आदेश का अधिकार तब तक निलम्बित नही किया जा सकता जब तक कि युद्धकाल में अथवा विद्रोह की स्थिति मे ऐसा करना अत्यावश्यक न हो जाये। यहाँ तक कि एक न्यायालय ने एक मुकदमें में यह निर्णय दिया था कि "युद्धकाल मे भी संवैधानिक मौलिक स्वतन्त्रताओं का हनन नही किया जा सकता। ग्रेट ब्रिटेन में ब्रिटिश आपात शक्ति अधिनियम 1920 के अनुसार अध्यादेश को ससद के समक्ष पाँच दिनों के भीतर रखा जाना चाहिए।" अगर ससद उसे अस्वीकृत कर देती है तो सात दिनो के बाद उसका अंत हो जायगा युद्धकाल में भी विधि का शासन अवश्य रखा जाता है।

इस प्रकार अमरीका और ब्रिटेन में आपातकालीन शक्तियो का प्रयोग केवल विधायिका तथा न्यायपालिका की शक्ति के अन्तर्गत ही किया जा सकता है। राज्याध्यक्ष अबाध रूप से उनका प्रयोग नही कर सकता है तथा व्यक्तियो की स्वतंत्रताओ का उनमे हनन नही हो सकता है। कनाडा, आयरलैंड, स्विटजरलैंड तथा आस्ट्रेलिया के सविधानों मे भी इस प्रकार के उपबन्ध नही हैं। केवल वाइमर संविधान में राष्ट्रपति को इस प्रकार की शक्तियाँ दी गई थी जिनका प्रयोग कर हिटलर ने, जर्मनी मे, नागरिक अधिकारो का दमन किया था। भारतीय राष्ट्रपति को भी इसी प्रकार की शक्तियाँ प्रदान की गई है। मौलिक अधिकारों को निलंबित करने की राष्ट्रपति की शक्ति को न्यायालय मे चुनौती नही दी जा सकती है और न ही न्यायालय उसकी वैधता की जाँच कर सकते है। अतः इन शक्तियो के कारण व्यक्ति की स्वतन्त्रताओं का हनन करके विधि-शासन को समाप्त किया जा सकता है। एच. वी. कामथ ने भी इसकी आलोचना करते हुए लिखा है कि, "(भारतीय) सविधान मौलिक अधिकारो की 'गौरवपूर्ण स्वीकृति पर आधारित है। उस नीव पर हमने लोकतन्त्र का भवन खड़ा करने की चेष्टा की है, लेकिन उस भवन पर 'महान् नकारात्मकता' की परत चढी हुई है। अनुच्छेद 259 इस निरकुश प्रतिगामिता की आधारशिला है।.........स्वतन्त्रता के निरकुश प्रतिरोधी के रूप मे इस अनुच्छेद की तुलना विश्व के अन्य किसी सविधान से नही की जा सकती है।"

किन्तु, वास्तव मे, इस उपबन्ध के व्यावहारिक पहलू पर दृष्टिपात करने से मालूम पड़ता है कि केवल 1962 के राष्ट्रीय आपात की अवधि मे ही मौलिक अधिकारों को निलम्बित किया गया था और उसका भी प्रभाव आम जनता पर नही के बराबर पड़ा।

साथ ही राज्य की सुरक्षा के कारण इनका होना आवश्यक है। वी एन. शुक्ला के शब्दो में, "उपबन्ध कठोर दीख पडते है, खासकर उस संविधान मे जिसका आधार मौलिक अधिकार तथा प्रजातत्र है। लेकिन इन उपबन्धों का भूतकालीन इतिहास के प्रसग मे किया जाना चाहिए। जब कभी भी देश में

दुर्बल रहा, भारत के लिए वह दुर्दिन सिद्ध हुआ। यह उचित दीख पड़ता है कि संविधान पृथक्कारी शक्तियों से देश की रक्षा करता है। ऐसी घटनाएँ घट सकती हैं जो राज्य के अस्तित्व को खतरा पहुँचायें। अगर ऐसी परिस्थितियों से राज्य की सुरक्षा के लिए कोई व्यवस्था न रहे तो राज्य का उसके मौलिक तत्वों सहित, विनाश निश्चित है।

आज भी तेलगाना विद्रोह, पश्चिम बंगाल की अव्यवस्थित दशा तथा चंडीगढ़ के लिए किए जाने वाले आन्दोलनों के साथ-साथ भाषावाद, प्रादेशिकता तथा सम्प्रदायवाद की भावनाएँ भी विद्यमान हैं। ऐसी दशा में राष्ट्रपति की संकटकालीन शक्तियाँ विधि-शासन की विरोधी न होकर सहायक ही प्रतीत होती हैं।

प्रश्न 15—भारतीय संविधान के इस वर्णन से आप कहाँ तक सहमत हैं कि "यह एक ऐसे संघात्मक राज्य की अपेक्षा जिसमें एकात्मक तत्व गौण है एक ऐसा एकात्मक राज्य है जिसमें संघात्मक तत्व गौण है।"

अथवा

भारत की केन्द्रीय सरकार द्वारा राज्यों पर किये गये नियन्त्रण की प्रकृति व विस्तार का वर्णन कीजिये। क्या यह संघवाद के विरुद्ध है?

अथवा

भारतीय संघवाद के विभिन्न मूल्यांकनों की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये।

उत्तर—भूमिका—यद्यपि संविधान द्वारा भारत के लिए एक संघात्मक व्यवस्था को अपनाया गया है किन्तु इसकी संघात्मक प्रकृति के संबंध में विद्वानों के विचार समान नहीं है। विद्वानों ने विभिन्न तथा विरोधी विचार व्यक्त किए हैं क्योंकि इसका ढांचा संघात्मक है किन्तु आत्मा एकात्मक है। इसकी प्रकृति इतनी लचीली है कि सामान्य काल में यह संघात्मक रहता है किन्तु संकटकाल में एकात्मक। यही वजह है कि जहाँ प्रो० व्हीयर ने "अर्द्ध संघ" कहा, वहाँ डा० कृष्ण पी० मुखर्जी ने इसे 'असंघात्मक या एकात्मक' कहकर पुकारा। श्री जी० एन० जोशी का विचार है कि "भारतीय संघ एक संघ नहीं बल्कि अर्द्ध संघ है जिसमें एकात्मक राज्य की कतिपय महत्वपूर्ण विशेषताओं का समावेश है।" स्वयं डा० अम्बेडकर का कहना है कि 'संविधान को संघात्मकता के सुनिश्चित ढाँचे में नहीं ढाला गया है।" डा० बी. एम. शर्मा का निश्चित मत है कि "भारतीय शासन-व्यवस्था को एकात्मक अथवा अर्द्ध संघात्मक कहना भ्रामक है क्योंकि यह पूर्णतः संघात्मक है जिसमें संतुलन केन्द्र की ओर झुका हुआ है।' श्री एलेक्जेन्ड्रोविच के अनुसार भी भारत को अर्द्ध संघात्मक राज्यों के वर्ग में रखना किसी भी तरह न्याय संगत नहीं है।

भारतीय संघीय व्यवस्था का परीक्षण करने से पूर्व संघात्मक शासन-व्यवस्था के लक्षणों पर विचार कर लेना युक्ति-संगत होगा।

संघीय शासन के लक्षण—संघीय शासन में निम्नलिखित लक्षण या विशेषताएँ होती हैं:—

(1) दो प्रकार की सरकारो का एक साथ रहना ।
(2) शक्तियों का विभाजन ।
(3) संविधान की सर्वोच्चता ।
(4) स्वतन्त्र न्यायपालिका ।
(5) दुहरी नागरिकता ।
(6) लिखित; श्रेष्ठ एवं दुष्परिवर्तनशील संविधान ।

(1) दो प्रकार की सरकारों का एक साथ रहना—संघीय शासन में दुहरे शासन-यंत्र अथवा दो प्रकार की सरकारों का अस्तित्व होता है। दोनों का अस्तित्व पृथक एवं स्वतन्त्र होता है। दोनों को शक्ति-संविधान से प्राप्त होती है। दोनों सरकारें एक दूसरे के अधीन नहीं रहतीं। संविधान के संघात्मक स्वरूप को समाप्त नही किया जा सकता और न कोई राज्य संघ से पृथक हो सकता है। दोनो सरकारो का पृथक्-पृथक् संगठन होता है—दुहरी नागरिकता, दुहरा प्रशासन—यत्र एव दो न्यायपालिकाएँ ।

(2) शक्तियों का विभाजन—संघीय शासन-व्यवस्था में संविधान के द्वारा केन्द्र और राज्य सरकारो के बीच शक्तियों का विभाजन किया जाता है। केन्द्रीय सरकार व राज्य सरकारें दोनो अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र होती है। संघीय शासन में केन्द्र राज्य की शक्तियों में हस्तक्षेप नही कर सकता और न ही केन्द्र राज्य की शक्तियों में हस्तक्षेप कर सकते हैं। इस प्रकार शक्तियों के विभाजन के आधार पर केन्द्र और राज्यों के क्षेत्राधिकार निश्चित कर दिए जाते हैं।

(3) संविधान की सर्वोच्चता—संघीय शासन में संविधान सर्वोच्च होता है और केन्द्रीय व राज्य-सरकार दोनो में किसी के द्वारा संविधान का उल्लघन नही किया जा सकता। संविधान की धाराएँ सभी सरकारों को अनिवार्य रूप से माननी पड़ती हैं और उसकी धाराओं के प्रतिकूल होने पर कोई कानून वैध नही माना जाता ।

(4) अ-स्वतन्त्र न्यायपालिका—संघीय शासन-व्यवस्था में एक स्वतन्त्र न्यायपालिका का अस्तित्व अपरिहार्य होता है क्योंकि राज्यों एव केन्द्र के क्षेत्राधिकार सम्बन्धी विवादों का निपटारा एक स्वतन्त्र न्यायपालिका द्वारा ही किया जा सकता है। स्वतन्त्र न्यायपालिका संविधान के संरक्षक के रूप में कार्य करती है। संघीय एव राज्यों के विधानमण्डलो द्वारा पारित कानूनों की वैधानिकता का परीक्षण स्वतन्त्र न्यायपालिका ही करती है।

(4) ब-स्वतन्त्र न्यायपालिका—संघीय शासन-व्यवस्था के समान ही भारतीय संघ में एक स्वतन्त्र न्यायपालिका की स्थापना की गई है। स्वतन्त्र न्यायपालिका को यहाँ सर्वोच्च न्यायालय नाम दिया गया है, जो संघीय संसद या राज्यों की व्यवस्थापिकाओं द्वारा पारित किसी भी ऐसे कानून को जो संविधान की धाराओं का उल्लघन करता है, को अवैध घोषित कर सकता है।

(5) लिखित, श्रेष्ठ एवं दुष्परिवर्तनशील संविधान—भारतीय संविधान एक लिखित प्रलेख है और संशोधन की दृष्टि से कठोर भी है। संविधान द्वारा किए गए शक्ति-विभाजन में संघीय सरकार या राज्य सरकारों में से किसी एक के द्वारा ही अपनी इच्छा से परिवर्तन नहीं किया जा सकता, वरन् इन प्रावधानों में परिवर्तन दोनों की सहमति से ही सम्भव है। भारतीय संविधान में 397 धाराएँ हैं।

संविधान के उपर्युक्त प्रावधानों के आधार पर कहा जा सकता है कि भारतीय संविधान एक पूर्ण संघात्मक व्यवस्था की स्थापना करता है।

(1) भारतीय संविधान के एकात्मक लक्षण—ऊपरी तौर से भारतीय संविधान एक संघात्मक शासन-व्यवस्था की स्थापना करता है किन्तु इसमें अनेक एकात्मक लक्षणों को भी यथास्थान देखा जा सकता है। संविधान के ये एकात्मक लक्षण प्रमुख रूप से निम्नलिखित हैं—

भारतीय संघ में संघीय शासन-व्यवस्था की तरह दुहरा प्रशासन यंत्र है। दोनों सरकारें एक दूसरे से पृथक एवं स्वतन्त्र हैं। भारती एककों की सरकारें स्वतंत्रता का उपभोग करती हैं। उनकी शक्तियों एवं अधिकारों के संबंध में केन्द्र सरकार हस्तक्षेप नहीं कर सकती।

(2) शक्तियों का विभाजन—संघीय शासन-व्यवस्था के सदृश भारतीय संविधान द्वारा भी संघ और राज्यों के बीच शक्ति का विभाजन किया गया है। संघीय सूची में 97 विषय हैं जिन पर संघीय संसद का एकमेव क्षेत्राधिकार है राज्य सूची के विषयों की संख्या 66 है जो राज्यों की व्यवस्थापिकाओं के अधिकार में है और समवर्ती सूची में 46 विषयों को संघ और राज्य दोनों के क्षेत्राधिकार में रखा गया है। संघीय एवं राज्य सरकारों के बीच शक्ति-विभाजन का उल्लेख भारतीय संविधान में अन्य किसी भी संघात्मक संविधान की तुलना में अधिक व्यापक रूप में किया गया है।

(3) संविधान की सर्वोच्चता—भारतीय संविधान देश का सर्वोच्च कानून है। संविधान ही संघ एवं राज्य सरकारों की शक्तियों का स्रोत है। संविधान की धाराओं का किसी भी सूरत में उल्लंघन नहीं किया जा सकता। संविधान द्वारा निर्दिष्ट क्षेत्राधिकारों का केन्द्र एवं राज्य की सरकारें या किसी प्राधिकारी द्वारा उल्लंघन अवैध समझा जाएगा।

(4) दुहरी नागरिकता—संघीय शासन में दुहरी नागरिकता का अस्तित्व रहता है। प्रत्येक व्यक्ति साधारणतः दो राज्यों का नागरिक होता है। एक तो उस इकाई के राज्य का जिसका कि वह निवासी होता है और दूसरे उस संघ-राज्य का जिसमें वह इकाई सम्मिलित होती है। अतः उसे दोनों ही सरकारों की आज्ञाओं का पालन करना पड़ता है। दोनों के प्रति निष्ठा रखते हुए दोनों के द्वारा उपलब्ध कराये गए सुख-सुविधाओं का उपभोग करता है।

(5) लिखित, श्रेष्ठ एवं दुष्परिवर्तनशील संविधान—चूंकि संघीय शासन समझौते द्वारा स्थापित शासन होता है, इसलिये उसके स्वरूप को निश्चित और व्यवस्थित करने के लिये एक लिखित श्रेष्ठ और दुष्परिवर्तनशील संविधान की आवश्यकता होती है जिससे केन्द्र और राज्यों को अपने-अपने अधिकारों तथा कार्यक्षेत्र का पूर्ण और स्पष्ट रूप से ज्ञान हो। इसके अतिरिक्त संघ-राज्य का संविधान कठोर होता है, जिसमें संशोधन सरलता से नहीं किया जा सकता।

भारतीय संविधान में संघात्मक लक्षण—यद्यपि भारतीय संविधान में कहीं पर भी 'संघ-राज्य' (Federation) शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है, वरन् उसके स्थान पर 'राज्यों के संघ' शब्द का प्रयोग नहीं किया है, फिर भी भारत वास्तव में एक संघ राज्य है। भारतीय संविधान में संघात्मक व्यवस्था के सभी प्रमुख लक्षण विद्यमान है—

दो प्रकार की सरकारों का अस्तित्व

1 केन्द्रोन्मुखी शक्ति विभाजन—भारतीय संघीय व्यवस्था में शक्तियों का विभाजन केन्द्र के पक्ष में किया गया है। संघीय सूची में 97 विषय है, राज्य-सूची में 66 और समवर्ती सूची में 561 समवर्ती सूची के विषयों में कानून बनाने का अधिकार दोनों को है किन्तु इन दोनों द्वारा निर्मित कानून में विरोध की स्थिति में संघीय सरकार के कानून ही मान्य होंगे। सुरक्षा थल, जल और वायु-शक्ति, रेलवे, मुद्रा और वैदेशिक सम्बन्ध आदि सभी महत्वपूर्ण विषयों पर संघ का एकमेव अधिकार है। इसके सिवाय अवशिष्ट शक्तियां भी केन्द्र को ही दी गई हैं। इस प्रकार संघीय सरकार को राज्य सरकारों की तुलना में बहुत अधिक महत्वपूर्ण शक्तियाँ प्राप्त है।

2 संघ एवं राज्यों के लिए एक ही संविधान—एकात्मक शासन की तरह भारत में संघ एवं राज्यों के लिए ही संविधान की रचना की गई है (जम्मू एवं कश्मीर को छोड़ कर)। भारतीय संघ की इकाइयों को स रा. अमेरिका के संघ की इकाईयों की तरह अपने अलग संविधान के निर्माण का अधिकार नहीं है।

3. इकहरी नागरिकता—संघीय व्यवस्था में दोहरी नागरिकता का होती है। एक संघ सरकार की तथा दूसरी पृथक्-पृथक् राज्यों की। भारत में केवल एक ही नागरिकता का प्रावधान है। राज्यों की निजी तथा पृथक् नागरिकता नहीं है। इस प्रकार भारतीय संविधान द्वारा सम्पूर्ण भारतीय क्षेत्र के लिये एक ही नागरिकता की व्यवस्था की गई है।

4. एकीकृत न्याय-व्यवस्था—संघीय व्यवस्था में दुहरी न्याय-व्यवस्था होती है। किन्तु भारतीय संघ में न्याय-पालिका को बहुत अधिक सीमा तक एकीकृत कर दिया गया है। देहली स्थित सर्वोच्च न्यायालय देश की सम्पूर्ण न्याय-व्यवस्था के शिखर पर स्थित है। राज्यों के उच्च न्यायालय सर्वोच्च न्यायालय की ही शाखाएं है और सर्वोच्च न्यायालय को इन उच्च न्यायालयों पर व्यापक क्षेत्राधिकार प्रदान किया गया है।

5. राज्यों की केन्द्र पर वित्तीय निर्भरता—राज्य वित्तीय दृष्टि से आत्म-निर्भर न होकर केन्द्र पर अवलम्बित है। केन्द्र के द्वारा राज्यों को विभिन्न प्रकार के अनुदान आदि दिये जाते हैं और इस आर्थिक सहायता के कारण केन्द्र राज्यों पर छाया रहता है। वित्तीय क्षेत्र मे आत्म-निर्भर न होने के कारण राज्यों की स्वतन्त्रता नाम मात्र की है।

6. द्वितीय सदन में समान प्रतिनिधित्व नहीं—संघीय व्यवस्था मे इकाईयों को जनसंख्या एवं आकार पर विचार किये बिना संघीय व्यवस्थापिका के द्वितीय सदन मे राज्यों को समान प्रतिनिधित्व प्रदान किया जाता है। किन्तु भारतीय संघीय व्यवस्था मे राज्यों को उनकी जनसंख्या के आधार पर राज्य-सभा में प्रतिनिधित्व प्रदान किया गया है।

7 राज्यों को संविधान में संशोधन लाने की शक्ति नहीं—संघीय व्यवस्था मे अवयवी इकाइयों को अपने संविधानों मे परिवर्तन करने का अधिकार प्राप्त है किन्तु भारतीय संघात्मक व्यवस्था में राज्यों को स्वतन्त्र रूप से राज्यों से सम्बन्धित संवैधानिक उपबन्धों मे भी परिवर्तन लाने का अधिकार नहीं है। संवैधानिक संशोधन का अधिकारी मूलत. संघ सरकार को प्रदान किया गया है।

8. संसद राज्य की सीमाओं के पुनर्निर्धारण मे समर्थ—प्रान्तीय संसद किसी भी राज्य के प्रदेश मे वृद्धि तथा कमी कर सकती है, राज्यों की सीमा बदल सकती है अथवा राज्यों के नाम में परिवर्तन कर सकती है। स. रा अमरीका एवं आस्ट्रेलिया के संघ मे राज्य की सीमाओं मे उनकी सहमति के बिना परिवर्तन नहीं किया जा सकता है और इसे संघात्मक व्यवस्था का एक आवश्यक सिद्धान्त समझा जाता है।

9 आपात्काल में एकात्मक—संघात्मक व्यवस्थाएँ शान्ति एवं संकटकाल मे संघात्मक ही बनी रहती है लेकिन भारतीय संविधान की विशेषता यह है कि सामान्यकाल मे तो यह संघात्मक बना रहेगा लेकिन राष्ट्रीय संकट के समय इसे बिना किसी प्रकार के औपचारिक संशोधन के एकात्मक व्यवस्था का रूप दिया जा सकता है। संकटकाल की घोषणा के क्रियाशील रहने के समय संघीय संसद के द्वारा राज्य सूची के विषयों पर भी कानूनों का निर्माण किया जा सकेगा और संघीय शासन के द्वारा राज्य-सरकारों को उनके निश्चित क्षेत्र मे भी आवश्यक निर्देश दिये जा सकेंगे।

10. राज्यों के राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा—राज्यपालों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा होती है। उनके प्रसाद पर्यन्त ही वह अपने पद पर रहता है। राज्य के राज्यपाल केन्द्रीय सरकार के एजेन्ट के रूप मे कार्य करते हैं। केन्द्र राज्यपाल के माध्यम से राज्य सरकार पर किसी प्रकार अंकुश लगा सकता है। यह संघवाद के मौलिक सिद्धान्त के विरुद्ध है।

11. विधेयक पर केन्द्र का नियन्त्रण—राज्य विधान-मण्डल द्वारा पारित कतिपय विधेयकों को पारित करने के पूर्व राष्ट्रपति की स्वीकृति आवश्यक है। कुछ विधेयको की अनिवार्य रूप मे राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भेजा जाता है। राज्यपाल को यह अधिकार है कि राज्य के विधान-मण्डल द्वारा पारित किसी भी विधेयक को राष्ट्रपति के विचारार्थ रक्षित रख सकता है। उस विधेयक पर राष्ट्रपति सहमति भी दे सकता है और रोक भी सकता है।

12 राज्यों के पारस्परिक झगड़ों का केन्द्र द्वारा निपटारा—राज्य के पारस्परिक झगडों के सम्बन्ध में केन्द्रीय सरकार को समन्वयकारी शक्ति प्राप्त है। इस उद्देश्य से राष्ट्रपति अन्तर्राज्यिक परिषदों और क्षेत्रीय परिषदों की स्थापना कर सकता है। परिषद् का कर्त्तव्य राज्यों के बीच उत्पन्न विवादों की जाँच करना, उन पर मन्त्रणा देना, पारस्परिक हित से सम्बद्ध विषयों की चर्चा करना और किसी विषय के बारे मे नीति और कार्यवाही के अधिक अच्छे समन्वय के लिए सिफारिश करना होगा।

13. मूलभूत विषयों में एक रूपता—संघ-राज्य विभिन्नताओं से पूर्ण व्यवस्था है। संघीय व्यवस्था मे कानून, शासन, न्याय-पद्धति तथा प्रशासनिक मामलो मे काफी भिन्नताएँ पाई जाती हैं। परन्तु भारतीय संघ में इन बातों मे पूर्ण एकरूपता लाने की चेष्टा की गई है। वित्तीय मामलों मे एकरूपता लाने के लिए महालेखा-परीक्षक की व्यवस्था की गई। प्रशासनिक एकरूपता लाने के लिए अखिल भारतीय सेवाओ की व्यवस्था की गई है। न्याय में एकरूपता लाने के लिए एकीकृत न्याय-व्यवस्था की स्थापना की गई है।

14. निर्वाचन आयोग—सविधान में सम्पूर्ण देश के लिए एक निर्वाचन आयोग की व्यवस्था की गई है। यह ससद तथा राज्यों के विधान-मण्डलो के निर्वाचनों का अधीक्षण, निर्देशन और नियन्त्रण करता है। आयोग के सदस्यों की नियुक्ति, राष्ट्रपति के द्वारा होती है।

निष्कर्ष—इस प्रकार भारतीय संघीय व्यवस्था मे एकात्मक व्यवस्था के पर्याप्त लक्षण विद्यमान हैं किन्तु इन लक्षणो के आधार पर भारतीय संघीय व्यवस्था को सघात्मक न मानना तथ्य से इन्कार करना है क्योंकि भारतीय सविधान मे केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति पर बल दिया गया है। इसकी भावना एकात्मक व्यवस्था से ओत-प्रोत होते हुए भी ऊपरी तौर से यह पूर्ण संघात्मक राज्य है। एकात्मक के इन लक्षणो के होते हुए भी सघात्मकता को नष्ट नही किया गया है। प्रो० एलेक्जेन्डरोविच का कथन सत्य के निकट है कि "भारत निस्संदेह एक सघ-राज्य है, जिसमे संप्रभुता के लक्षण केन्द्र एवं राज्यों मे निहित है।"

---

1. C H Alexandrowitch : Constitutional Development in India P. 169.

प्रश्न 16—संविधान द्वारा प्रदत्त मौलिक अधिकारों का आलोचनात्मक वर्णन कीजिए।

अथवा

मूलाधिकारों की व्यवस्था एक पुलिस कांसटेबिल के दृष्टिकोण से की गई है, एक स्वतंत्र देश के दृष्टिकोण से नहीं। व्याख्या कीजिए।

अथवा

"संविधानिक उपचारों का अधिकार सारे संविधान की आत्मा और दिल है।" यह कथन कहाँ तक सत्य है?

अथवा

संविधान द्वारा दिए गये मौलिक अधिकार क्या असीमित हैं?

उत्तर—अभिप्राय—वे अधिकार, जो व्यक्ति के जीवन के लिए मौलिक तथा अपरिहाय है और व्यक्ति के जिन अधिकारो मे राज्य द्वारा भी हस्तक्षेप नही किया जा सकता, मौलिक अधिकार कहलाते हैं।

मौलिक अधिकार नागरिक के कल्याण, न्याय और उचित व्यवहार की सुरक्षा प्रदान करते है और इस तरह राज्य के बढ़ते हुए हस्तक्षेप और व्यक्ति की स्वतन्त्रता के बीच सतुलन स्थापित करते है। नागरिको के मौलिक अधिकार, मानव-स्वतंत्रता के मापदण्ड और सरक्षक दोनो ही हैं। इस कारण उनका अपना वैज्ञानिक महत्त्व है। आज के युग का कोई राजनैतिक दार्शनिक उसकी उपेक्षा नही कर सकता।

भारतीय सविधान अपने नागरिको को कुछ विशिष्ट अधिकार प्रदान करता है। यह अधिकार मूलाधिकार कहलाते है। इसके दो कारण है। पहला भारतीय नागरिको के व्यक्तित्व के विकास के लिए सविधान निर्माताओ ने उन्हे मूल रूप से आवश्यक समझा। दूसरा यह कि अधिकार मूल रूप से भारतीय नागरिक के साथ रहते है। इन पर किसी भी प्रकार का कोई अतिक्रमण नही किया जा सकता। यह मूल रूप से नागरिको के अधिकार है और भारतीय सर्वोच्च न्यायालय इनका सरक्षक है।

भारतीय सविधान द्वारा मान्यता प्राप्त मौलिक अधिकारो का 7 वर्गों मे अध्ययन किया जा सकता है—

1. समानता का अधिकार।
2. स्वतंत्रता का अधिकार।
3 शोषण के विरुद्ध अधिकार।
4. धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार।
5. सस्कृति तथा शिक्षा सम्बन्धी अधिकार।
6. सम्पत्ति का अधिकार।
7. संवैधानिक उपचारों का अधिकार।

1. समानता का अधिकार—अनु. 14–18 भारतीय संविधान के द्वारा सभी व्यक्तियों को वैधानिक, नागरिक तथा सामाजिक समानता प्रदान की गई है। संविधान के अनु 14 से 18 समानता के अधिकार से सम्बन्धित है और इनके द्वारा पाँच प्रकार मे नागरिको को समानता का अधिकार दिया गया है—

(1) कानून के सामने समानता—अनु॰ 28 के अनुसार "भारत के राज्य क्षेत्र मे राज्य किसी भी व्यक्ति को कानून के समक्ष समानता अथवा कानून के समान सरक्षण से वंचित नही करेगा।" बुद्धन चौधरी (1955-1 एस सी आर. 1045, 1048) के मामले मे उपर्युक्त अधिकार की वकालत की गई।

(2) धर्म मूल, वंश, जाति, लिंग, जन्म-स्थान आदि के आधार पर भेद-भाव करने की मनाही – अनु॰ 15 के अनुसार कोई भी व्यक्ति केवल अपने धर्म, लिंग, जाति या जन्म-स्थान के कारण दुकानों, सार्वजनिक, भोजनालयों, होटलो एवं सार्वजनिक मनोरजन के स्थानो तथा सरकारी तथा सरकार से प्राप्त सहायता के कुओं, तालाबों, स्नानघरों तथा सार्वजनिक सैर के स्थानो पर जाने से वंचित नही किया जा सकता।

(3) सार्वजनिक पदो की प्राप्ति के लिए अवसर की समानता—अनु॰ 16 के अनुसार "सब नागरिको के लिए सरकारी पद पर नियुक्ति के लिए समान अवसर उपलब्ध होगे। केवल धर्म, मूल, वंश, जाति, लिंग और जन्म-स्थान या इनमे से किसी के आधार पर किसी नागरिक के लिए सरकारी नौकरी या पद के लिए अपात्रता न होगी और न ही किसी प्रकार का भेद-भाव किया जायेगा।" फिर भी सविधान मे इस बात का उल्लेख किया गया है कि स्त्रियो, बच्चों और पिछडे वर्ग के लोगों को उन्नति के लिए विशेष कानून बनाये जा सकते है।

(4) अस्पृश्यता का अन्त—अनु॰ 17 के अनुसार 'अस्पृश्यता का अन्त किया जाता है और उसका किसी भी रूप मे आचरण निषिद्ध किया जाता है।"

(5) उपाधियों की समाप्ति—अनु॰ 28 के अनुसार उपाधियो को समाप्त कर दिया गया है। केवल विद्या एव सेना सम्बन्धी उपाधियां दी जा सकती हैं।

2. स्वतन्त्रता का अधिकार—भारतीय सविधान मे व्यक्ति स्वातन्त्र्य की व्यवसाय अनु॰ 19 से 22 तक की गई है,इसके द्वारा नागरिको की सात स्वतंत्रताएं प्रदान की गई हैं—

(1) भारत के प्रत्येक नागरिक को अपने विचार अभिव्यक्त करने की स्वतंत्रता है।

(2) अपने विचारों की व्याख्या एव प्रचार के लिये निरायुध सार्वजनिक सभा का आयोजन किया जा सकता है।

(3) सभी नागरिको को समुदायों एवं संघो के निर्माण की स्वतत्रता प्रदान की गई है।

(4) प्रत्येक नागरिक को भारत के किसी भी भाग में अबाध भ्रमण तथा निवास की स्वतन्त्रता दी गई है।

(5) नागरिकों को वैयक्तिक संपत्ति के अर्जन, धारण तथा व्यय की स्वतंत्रता प्रदान की गई है

(6) नागरिकों को वृत्ति उपजीविका, व्यापार अथवा व्यवसाय की स्वतंत्रता दी गई है।

स्वतन्त्रता के अधिकार पर प्रतिबंध—स्वतन्त्रता का अधिकार किसी भी प्रकार पूर्ण नहीं है। इनके ऊपर अनेक प्रतिबन्ध लगे हुये हैं। उदाहरण के लिये भारतीय सुरक्षा अधिनियम के अधीन किसी भी नागरिक को तीन महीने तक और संसद से स्वीकृत मिल जाने पर इससे भी अधिक समय के लिये बिना किसी परीक्षण के जेल में रखा जा सकता है। आलोचकों का मत है कि यह प्रतिबन्ध स्वतंत्रता और जनतन्त्र की भावना के विपरीत है।

3. शोषण के विरुद्ध अधिकार—अनु० 23-24 में उपबन्धित इस अधिकार द्वारा किसी भी नागरिक से बेगार नहीं ली जा सकती और न ही उसे बल-पूर्वक परिश्रम के लिये बाध्य किया जा सकता है। संविधान द्वारा इस बात का भी आदेश है कि 14 वर्ष की आयु से कम के बालक को अथवा स्त्रियों को अधिक परिश्रम वाली और संकटमय नौकरियों में नहीं लगाया जायगा।

4. धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार—भारतीय संविधान की धारा 25 के अनुसार नागरिकों को धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार मिला हुआ है। सभी नागरिक अपना धर्म मानने, उसका प्रचार व प्रसार करने का अधिकार रखते हैं। इन अधिकारों के सम्बन्ध में यह आवश्यक है कि इनका प्रयोग सार्वजनिक-व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य के अधीन रहते हुये किया जाय। संविधान में यह भी निर्धारित किया गया है कि राज्य द्वारा सहायता प्राप्त शिक्षा संस्थाओं में किसी भी प्रकार की धार्मिक शिक्षा नहीं दी जायेगी। किसी भी विद्यार्थी को धार्मिक शिक्षा में भाग लेने अथवा धार्मिक उपासना में संलग्न रहने को बाध्य नहीं किया जायेगा।

धार्मिक स्वतन्त्रता से सम्बद्ध उपरोक्त उपबन्धों से यह नितान्त स्पष्ट है कि भारत एक धर्म-निरपेक्ष राज्य है किन्तु भारत राज्य की इस धर्म निरपेक्षता को धर्म-विरोध की संज्ञा नहीं दी जा सकती।

5. संस्कृति एवं शिक्षा संबंधी अधिकार—भारतीय संविधान की धारा 29 के अनुसार भारत के नागरिकों के किसी भी विभाग को जिसकी अपनी विशेष भाषा लिपि या संस्कृत हो, बनाये रखने का अधिकार होगा और राज्य द्वारा सहायता पाने वाली किसी भी शिक्षा-संस्था में धर्म, वंश, जाति, भाषा के आधार पर किसी भी नागरिक को प्रवेश से वंचित नहीं किया जा सकता। धारा 30 के अनुसार धर्म अथवा भाषा पर आधारित सब अल्प-संख्यक वर्गों को अपनी रुचि की शिक्षा ...ओं की स्थापना व प्रशासन का अधिकार है।

6. सम्पत्ति का अधिकार—अनु० 32 घोषित करता है कि किसी भी व्यक्ति को उसकी सम्पत्ति से उस समय तक वंचित नहीं किया जायेगा, जब तक कि ऐसा करने के लिए विधि का प्राधिकार' (Authority of law) प्राप्त न कर लिया जाये। इसके अधीन किसी भी व्यक्ति को सम्पत्ति को सार्वजनिक उपयोग के लिये मुआवजा दिये बिना नही लिया जा सकता। इसके अलावा राज्य की विधान-सभाओं द्वारा पास किया हुआ, कोई भी ऐसा कानून जो सम्पत्ति के अनिवार्य रूप से अर्जित करने से सम्बन्धित हो तब तक प्रभावशाली नही होगा जब तक कि उसे राष्ट्रपति की स्वीकृति न मिल जाय।

सम्पत्ति के अधिकार की आलोचना—समाजवादी और साम्यवादी भारतीय संविधान में दिए गए सम्पत्ति के अधिकार की कठोर आलोचना करते हैं। उनका मत है कि इन उपबन्धो (धारा) के कारण भारतवर्ष मे समाजवाद के अनिवार्य तत्वों से लोकतन्त्र की स्थापना का कार्य कठिन हो जाएगा। जमींदार और सम्पत्तिशाली वर्ग कृषि-सुधार के मार्ग मे रोडे अटका सकते है। यह आलोचना निराधार नही है। यह इस बात से स्पष्ट है कि राज्य द्वारा पास किए गए जमीदारी के उन्मूलन के कानूनों को वैधानिक करार देने के लिए संविधान को संशोधित करना पड़ा।

7. संवैधानिक उपचारों का अधिकार—भारतीय संविधान की धारा 32 के अनुसार प्रत्येक नागरिक को यह अधिकार है कि वह संविधान द्वारा प्रदान किए गए अधिकारों के अतिक्रमण होने पर न्यायालयों की शरण ले सकता है। इसके अन्तर्गत बंदी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेध, अधिकार पृच्छा और उत्प्रेषण आते है।

(i) बन्दी प्रत्यक्षीकरण का लेख (Writ of Habeas Corpus)—यह उस व्यक्ति की प्रार्थना पर जारी किया जाता है, जो यह समझता है कि उसे अवैध रूप से बंदी बनाया गया है। इसके द्वारा न्यायालय, बन्दीकरण वाले अधिकारी को निश्चित समय और स्थान पर बन्दी को न्यायालय के समक्ष उपस्थित करने की आज्ञा देता है, जिससे न्यायालय बन्दीकरण के कारणो की जाँच कर सकें। यह लेख सरकारी अधिकारियों के अतिरिक्त निजी व्यक्तियों तथा सगठनो के विरुद्ध भी जारी किया जा सकता है।

(ii) परमादेश (Mandamus)—यह आदेश तब जारी किया जाता है जब *न्यायालय किसी अधिकारी अथवा व्यक्ति को अपना कानूनी कर्त्तव्य पूरा करने के* लिए विवश करना चाहता है। यह प्रायः सार्वजनिक कर्त्तव्यो को पूरा करने के लिए जारी किया जाता है।

(iii) प्रतिषेध लेख (Prohibition)—इस लेख का प्रयोग उच्च न्यायालय, निम्न न्यायालय को उसके अधिकार-क्षेत्र का उल्लघंन करने से रोकने के लिये करता है।

(iv) उत्प्रेषण का लेख (Certiorari)—यह लेख एक उच्च न्यायालय द्वारा निम्न न्यायालय को जारी किया जाता है, जिसमे निम्न न्यायालय को उस विवाद के

सम्बन्ध में जो पहले उस न्यायालय मे चल रहा था और अब उच्च न्यायालय में चल रहा है तत्सबंधी कार्यवाही तथा कागजात भेजने का आदेश दिया जाता है।

(v) अधिकार पृच्छा का लेख (Qus warrants)—यह लेख तब जारी किया जाता है जब न्यायालय को पद संबंधी दावे की वैधानिकता की जाँच करनी होती है। यदि यह दावा निराधार होता है तो उस व्यक्ति को अपने पद से हटना पड़ता है।

प्रश्न 17—राज्य के नीति-निर्देशक तत्त्वों और मौलिक अधिकारों में क्या अन्तर है ?

अथवा

मूलाधिकारों की राज्य नीति-निर्देशक तत्वों से तुलना कीजिये।

उत्तर—मौलिक अधिकारो और राज्य के नीति निर्देशक तत्वो मे निम्न अन्तर है—

नीति-निर्देशक तत्व व मूलाधिकार

(1) मूलाधिकार न्याय विण्ट हैं नीति निर्देशक तत्व अन्याय विण्ट—मूलाधिकारो को कानूनी बल प्राप्त होता है. न्यायालय सरकार को इन्हें लागू करने के लिए बाध्य कर सकते है। यदि कोई कानून किसी मूल अधिकार का उल्लघन करता है तो उच्चतम न्यायालय उस कानून को अवैध घोषित कर सकता है। दूसरी ओर नीति-निर्देशक तत्वो के पीछे ऐसी कोई वैधानिक अनुशक्ति नही होती जो इन्हे लागू करना राज्य की अपनी इच्छा पर निर्भर करता है। अगर कोई कानून इनका उल्लंघन करता है तो कोई भी अदालत उस कानून को केवल इसलिए अवैध घोषित नही कर सकती, कि वह नीति निर्देशक सिद्धान्तों का उल्लघन करता है। श्री जोशी का कथन है कि "निर्देशक सिद्धान्तो से न तो हमको कोई न्याय योग्य अधिकार प्राप्त होते हैं और न संविधान ने उसके अतिक्रमण पर कोई उपचार सुझाए है।"[1]

(2) मूलाधिकार निषेधाज्ञाएं हैं निर्देशक तत्व सकारात्मक आदेश—मौलिक अधिकार राज्य के लिए कतिपय निषेधाज्ञाएं (Injunctions) हैं जिनके द्वारा राज्य को कुछ काम न करने का आदेश दिया गया है। इनके विपरीत निर्देशक तत्व राज्य के प्रति कतिपय सकारात्मक (Positive) आदेश हैं और नागरिकों मे यह आशा की गई है कि वह राज्य के प्रति अपने कुछ पवित्र दायित्वो को पूरा करें। ग्लेडहिल के शब्दो में—"मौलिक अधिकार तो कतिपय निषेधाज्ञाएं है और इनके द्वारा राज्य को कुछ कार्यों के करने से रोका जाता है। इसके विपरीत राज्य की नीति के निर्देशक तत्व सरकार को कुछ सकारात्मक आदेश हैं, जिन्हें पूरा करना उसका कर्तव्य ठहराया गया है।"[2]

---

1. G. N. Joshi, The Constitution of India P. 103, 4.
2. Gladlill—A The Republic of India P. 16.

(3) **मूलाधिकार संसद के क्षेत्राधिकार से बाहर, नीति-निर्देशक क्षेत्राधिकार के अन्दर**—संसद मूलाधिकारों के सम्बन्ध में कोई कानून नहीं बना सकती। वह इन अधिकारों का उल्लंघन नहीं कर सकती, ये अधिकार संसद के क्षेत्राधिकार की सीमा से बाहर हैं। नीति-निर्देशक तत्व संसद की सीमा के अन्दर आते हैं इसलिए वह उनसे सम्बन्धित कानूनों का निर्माण कर सकती है।

(4) **मूलाधिकारों को लागू करने के लिए कानून जरूरी नहीं निर्देशक सिद्धान्तों के लिए आवश्यक**—मूलाधिकारों के क्रियान्वयन के लिए किसी कानून बनाने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि ये स्वयं कानून के रूप हैं जिनका उल्लंघन न विधान-मण्डल कर सकता है न कार्यपालिका। इसके विपरीत निर्देशक सिद्धान्तों को लागू करने के लिए कानून की आवश्यकता पड़ेगी नहीं तो इनका उल्लंघन अवैध नहीं माना जाएगा।

(5) **मूलाधिकार राज्य का अनिवार्य उत्तरदायित्व निर्देशक सिद्धान्त कोरा चैक**—मौलिक अधिकारों को लागू करना राज्य का विशेष एवं अनिवार्य उत्तरदायित्व माना जाता है। इसके विपरीत निर्देशक सिद्धान्त कोरे चैक के सदृश है जिसके भुगतान का आधार अनिवार्यता नहीं इच्छा है।

(6) **मूलाधिकार साध्य हैं निर्देशक सिद्धान्त साधन**—निर्देशक सिद्धान्त साधन के रूप में है जो राज्य की नीति निर्धारित करने व उसका पथ-प्रदर्शन करने के लिए सहायक होते हैं जबकि मूलाधिकार उद्देश्य अथवा साध्य हैं जिन तक राज्य व्यक्ति को पहुंचाने का प्रयास करता है।

(7) **मूलाधिकार सीमित किए जा सकते हैं, निर्देशक सिद्धांत नहीं किए जा सकते**—मूलाधिकार राष्ट्रपति द्वारा आपात्‌कालीन घोषणा होने पर मर्यादित, सीमित एवं निलम्बित किए जा सकते है। ऐसी अवस्था में इन्हें न्यायालय बाध्यरूप से लागू करने में अशक्य होता है किन्तु नीति-निर्देशक सिद्धान्त किसी भी समय एवं अवस्था में न तो मर्यादित व सीमित ही किए जा सकते हैं और न ही निलम्बित किए जा सकते हैं।

(8) **मूलाधिकार का विषय व्यक्ति है निर्देशक सिद्धांत का विषय राज्य है**—मूलाधिकार व्यक्ति को कुछ अधिकार दिलाता है, उसका विषय एवं क्षेत्र केवल व्यक्ति है। व्यक्ति के इर्द-गिर्द ही वे घूमते हैं किन्तु निर्देशक सिद्धान्त राज्य से सम्बन्धित हैं, वे राज्य को कुछ निश्चित प्रकार का कार्य करने के लिए निर्देश देते हैं। मूलाधिकारों का राज्य से कोई ताल्लुक या सम्बन्ध नहीं है जबकि निर्देशक सिद्धान्तों का व्यक्ति से कोई सरोकार नहीं है।

(9) **मूलाधिकार व्यक्ति के विकास से सम्बन्धित हैं निर्देशक सिद्धान्त सामाजिक कल्याण से सम्बन्धित**—चूंकि मूलाधिकारों का विषय व्यक्ति है अतएव वह व्यक्ति के विकास एवं कल्याण से सम्बन्धित है। वह व्यक्ति के कल्याण के लिए

आवश्यक शर्तें एवं परिस्थितियाँ पैदा करता है ताकि व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सके । निर्देशक सिद्धान्त का विषय राज्य होने के नाते वह सामाजिक कल्याण मे सहयोग देता है । वह समाज अथवा राज्य के विकास के लिए आवश्यक परिस्थितियों का निर्माण करता है ।

(10) मूलाधिकार राजनीतिक पक्ष पर जोर देते हैं निर्देशक सिद्धान्त आर्थिक और सामाजिक पक्ष पर—मूलाधिकार राजनीतिक पहलू पर बल देते हैं। व्यक्ति को राजनीतिक अधिकारों के प्रति सजग रखते है । इसके विपरीत निर्देशक सिद्धान्त आर्थिक और सामाजिक पहलू पर जोर देते हैं ।

(11) मूलाधिकारो के मुकाबले में निर्देशक सिद्धान्त कम महत्वपूर्ण है—चूंकि निर्देशक सिद्धान्तों के पीछे कोई वैधानिक अनुशक्ति नही है इससे सिद्ध होता है कि वे मौलिक अधिकारो की तुलना मे कम महत्वपूर्ण होते है । मौलिक अधिकारो का उल्लंघन करके राज्य-नीति निर्देशक सिद्धान्तो को लागू कराने के लिए कोई कानून नहीं बना सकता जैसा कि कुरेशी बनाम बिहार राज्य नामक मुकद्दमे मे सर्वोच्च न्यायालय ने उपर्युक्त मत की पुष्टि की थी ।

लेकिन ऐसे अवसर भी आए हैं जब सर्वोच्च न्यायालय ने अपना निर्णय देते समय राज्य के नीति-निर्देशक सिद्धान्तो को पर्याप्त महत्व दिया है । बिहार राज्य बनाम कामेश्वरसिंह नामक विवाद मे न्यायालय ने निर्णय करने के लिए निर्देशक सिद्धान्तो का सहारा लिया था ।

(12) मौलिक अधिकारों एव नीति निर्देशक-सिद्धान्तो में संघर्ष होने की दशा मे मौलिक अधिकार ही मान्य होते हैं निर्देशक सिद्धान्त नही । अनुच्छेद 36 द्वारा निर्देशित सिद्धान्तो को स्पष्टतः न्यायालय द्वारा नही बनाया गया इसलिए इन्हें संविधान के तृतीय भाग मे प्रदत्त मौलिक अधिकारों की अपेक्षा वरीयता प्रदान नही की जा सकती ।

उपर्युक्त विवेचन के उपरान्त यह निश्चयतः कहा जा सकता है कि यद्यपि मौलिक अधिकार तो अति श्रेष्ठ और सर्वोच्च है ही, किन्तु नीति-निर्देशक सिद्धान्त भी एक कल्याणकारी राज्य की स्थापना की दृष्टि से कम महत्वपूर्ण नहीं है । सिद्धांतों को उचित महत्व देना ही चाहिए क्योंकि इनका उद्देश्य समाज की उन्नति और कल्याण है । वास्तविक बात यह है कि मौलिक अधिकारों और निर्देशक सिद्धान्तों का आपस में घनिष्ठ सबंध है और यह सोचना उचित नही है कि उनमे किसका महत्व अधिक है और किसका कम । राज्य को उन्हें इस प्रकार लागू कराना चाहिए कि दोनों एक साथ व्यक्ति और समाज की उन्नति के लिए उपयोगी हों ।

प्रश्न 18—'भारतीय संविधान में उल्लिखित राज्य-राज्य के नीति-निर्देशक तत्व अपने आप में एक अनूठा आदर्श है ।" आप इस कथन से कहाँ तक सहमत हैं ?

अथवा

संविधान द्वारा उल्लिखित राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों का उल्लेख कीजिये ।

उत्तर—नीति-निर्देशक तत्वों की विशेषतायें—नीति-निर्देशक तत्व राजनीतिक घोषणा-पत्र, नैतिक नियमो की संहिता अथवा राज्यपालों या प्रशासकों को मार्ग दिखाने वाली ज्योति के समान है । नीति-निर्देशक तत्वो की घोषणा का विचार फ्रांस की राज्य-क्रांति मे नागरिको के अधिकारो की घोषणा और अमरीकी स्वतन्त्रता की घोषणा से प्रभावित है । संविधान के चौथे भाग मे अनु. 36 से 51 तक राज्य के पथ-प्रदर्शन हेतु 'राज्य के नीति-निर्देशक तत्व' के नाम से कुछ सिद्धान्तो की व्यवस्था की गई है ।

राज्यो के निर्देशक—इन नीति-निर्देशक तत्वो का उल्लेख राज्य के निर्देशन के लिए किया गया है जिनका अनुसरण राज्य को करना चाहिए । अनु. 36 के अनुसार "यद्यपि इन निर्देशक सिद्धान्तों को लागू करने के लिए किसी अदालत को बाध्य नही किया जा सकता, तथापि वे देश के शासन मे आधार-भूत है और कानून बनाने मे उनका अनुसरण करना राज्य का कर्तव्य है ।" नीति-निर्देशक तत्वों की प्रकृति को स्पष्ट करते हुए श्री जी. एन. जोशी लिखते हैं कि "इन निर्देशक तत्वो का विधान-मण्डलो को कानून बनाते समय और कार्य-पालिका को इन कानूनो को लागू करते समय ध्यान रखना चाहिए । ये उस नीति की ओर संकेत करते है जिसका अनुसरण संघ और राज्यो को करना चाहिए ।"

अन्यायविष्ट—इन तत्वो को किसी न्यायालय द्वारा लागू नही किया जा सकता परन्तु ये उन नीतियों को निर्देशित करते है कि जिन पर संविधान संघ और राज्यो को चलाना चाहता है । इन तत्वों का उद्देश्य विधान-मण्डल और कार्य-पालिका के लिए पथ का निर्देशन करना है । संविधान मे लिखा है कि—"राज्य लोक-कल्याण के लिए प्रयास करेगा और तदर्थ ऐसी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना करने और उसकी सुरक्षा करने का प्रयास करेगा जिसमे सामाजिक, आर्थिक, तथा राजनैतिक न्याय, राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओ को अनुप्रेरित करें ।

एक कार्यक्रम—जी० एन० जोशी के विचार से "ये सारे निर्देश एक आधुनिक लोक-तन्त्रात्मक राज्य के लिए विस्तृत, राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक घोषणा-पत्र अथवा कार्यक्रम प्रस्तुत करते है इस रूप मे वे जनता के अन्दर आदर और स्नेह की भावना उपजाते हैं और उसमें एक श्रेष्ठतर सम्माजिक और आर्थिक व्यवस्था की आशा जगाते हैं, ये निर्देश लोक-तन्त्रात्मक गण-राज्य के विकास के लिए एक अनुकूल वातावरण का निर्माण करने के उद्देश्य से दिए गए हैं ।"

एक आदर्श—भूतपूर्व न्यायाधीश श्री एम० सी० छागला के शब्दो मे "यदि इन निर्देशक तत्वो को भली प्रकार कार्य रूप दिया जाय तो हमारा देश धरती ५

स्वर्ग बन जाएगा। भारत केवल राजनीतिक दृष्टि से ही लोकतन्त्र न होगा बल्कि एक कल्याणकारी राज्य जिसके नागरिकों मे आर्थिक समानता होगी और प्रत्येक व्यक्ति को काम करने, शिक्षा पाने तथा अपनी मेहनत का फल प्राप्त करने का समान अवसर मिलेगा।"

कार्यपालिका के अनुदेश पत्र—इस प्रकार राज्य के नीति निर्देशक तत्व संविधान के उद्देश्य को अंगीकृत करते हैं। ये एक लोक-कल्याणकारी राज्य की स्थापना के लिये आदर्श प्रस्तुत करते है। ये व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका के लिए अनुदेश-पत्र है। ये सिद्धान्त अन्यायाविष्ट है। फिर भी, इन्हे देश के शासन के मूलभूत सिद्धांत के रूप मे स्वीकार किया गया है।

आयरलैंड और स्पेन के संविधानो को छोड़कर विश्व के किसी भी संविधान मे नीति-निर्देशक तत्वों का उल्लेख नही मिलता। आयरलैंड की भांति राज्य के स्वरूप को लोक-हितकारी बनाये रखने के लिये ही सम्भवतया संविधान में नीति-निर्देशक तत्वो को निहित किया है।

प्रमुख नीति-निर्देशक तत्व—संविधान मे इन सिद्धान्तो का किसी नियमित ढग से वर्णन नही किया गया है तथापि उनमें समाजवादी तत्वों, गांधीवादी तत्वों और उत्तरदायी तत्वो का समावेश है।

सामाजिक विकास सम्बन्धी तत्व—राज्य के नीति-निर्देशक तत्व सामाजिक कल्याण और विकास के लिये राज्य को आदेश देते हैं कि—

1. राज्य की सभी नीतियां एव कार्यों का लक्ष्य लोकहितकारी समाज का निर्माण करना होगा।

2. राज्य इस प्रकार अपनी नीतियो का निर्माण करेगा जिससे कि जनता का रहन-सहन का स्तर दिन प्रतिदिन ऊंचा उठता जाय।

3. सामाजिक कल्याण को दृष्टि मे रखते हुये मद्यपान व नशीले पदार्थों का सेवन निषेध करना राज्य का कर्त्तव्य होगा।

4. राज्य अनुसूचित जातियो के आर्थिक एवं बौद्धिक विकास के लिये पूरी चेष्टा करेगा।

5. स्त्रियो एवं पुरुषों में कोई भेदभाव न होगा और स्त्रियों को पुरुषो के समान ही वेतन मिलेगा तथा प्रसूति-काल में उन्हें कुछ विशेष सुविधाएँ भी प्राप्त होंगी।

6. राज्य 14 साल से कम आयु के बच्चों को शोषण से बचाने के लिये सभी आवश्यक साधनों का प्रयोग करेगा।

न्याय, शिक्षा एवं शासन से सम्बन्धित तत्व—

1. संविधान की धारा 50 के अनुसार राज्यों का यह कर्त्तव्य होगा कि वे न्यायपालिका व कार्यपालिका को अलग रखने का प्रयास करें।

2. समस्त नागरिकों को विधिवत् समान न्याय प्राप्त हो और ऊँच-नीच का भेदभाव रखकर न्याय में पक्षपात किया जाय।

3. सभी नागरिकों के लिये एक ही आचार-सहिता की व्यवस्था की जायेगी।

4. 14 वर्ष तक की आयु के बच्चों को राज्य की ओर से निःशुल्क शिक्षा प्रदान करने की चेष्टा की जायेगी।

5 राज्य का यह कर्त्तव्य होगा कि वह पिछड़ी जातियों के शैक्षणिक विकास पर पूरा-पूरा ध्यान दे।

6. प्रजातन्त्र की भावना को विकसित करने के लिये राज्य का यह कर्त्तव्य होगा कि वह ग्राम-पचायतों का संगठन करे, और उन्हें इतनी स्वतन्त्रता दे ताकि वे स्वराज्य की इकाई के रूप में कार्य कर सकें।

आर्थिक व्यवस्था सम्बन्धी तत्त्व—

1. राज्य यह प्रयत्न करेगा कि सभी व्यक्तियों को उनकी योग्यता के अनुसार काम प्राप्त हो सके, इसके साथ ही वह बुढापा, बीमारी व बेकारी तथा अन्य ऐसी अवस्था में जबकि व्यक्ति किसी कारण वश अपनी जीविका कमाने में असमर्थ हो यथा सम्भव सहायता प्रदान करेगा।

2. देश की आर्थिक दशा सुधारने के लिये राज्य सम्पत्ति के समान वितरण की व्यवस्था करेगा।

3. राज्य इस बात की चेष्टा करेगा कि सम्पत्ति और उत्पादन के साधनों का एक स्थान पर केन्द्रीयकरण न होने पाये।

4. राज्य घरेलू उद्योग-धन्धों की उन्नति में प्रयत्नशील रहेगा।

5. राज्य इस बात का पूरा प्रयास करेगा कि गो-हत्या बन्द हो तथा वैज्ञानिक ढग से खेती को प्रोत्साहित किया जाय। पशुओं की नस्ल में सुधार हो तथा दूध देने वाले पशुओं की ओर विशेष ध्यान दिया जाय।

राष्ट्रीय स्मारकों की सुरक्षा से सम्बन्धित तत्त्व—

1. सविधान की धारा 48 में लिखा है कि "कलात्मक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण प्रत्येक स्मारक तथा भवन और ससद द्वारा घोषित राष्ट्रीय महत्त्व के स्थानों के नष्ट होने, कुरूप होने, क्षय अथवा हटाए जाने से रक्षा करना राज्य का कर्त्तव्य होगा।

अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति सम्बन्धी तत्त्व—सविधान की धारा 51 के अनुसार राज्य का यह कर्त्तव्य है कि—

1. अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति व सुरक्षा का विकास हो।

2. राष्ट्रों के बीच न्याय और सम्मानपूर्ण सम्बन्धों की स्थापना हो।

3. राष्ट्रों के आपसी व्यवहार में अन्तर्राष्ट्रीय कानून व संविधानों के प्रति सम्मान की भावना का विकास हो।

4. अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ो को मध्यस्थता द्वारा मिटाये जाने का प्रयत्न किया जाय।

नीति निर्देशक तत्त्वों की आलोचना—नीति निर्देशक तत्त्वो की आलोचना आलोचकों ने बड़ी ही लाक्षणिक भाषा में की है। इन सिद्धान्तो को आलोचको ने 'थोथे वचनों' 'नैतिक उपदेश' 'राजनीतिक घोषणाएं' एवं शुभ इच्छाएं" हैं। श्री नसीरुद्दीन ने इन्हे 'नव वर्ष' के प्रथम दिन पास किये गये शुभकामना प्रस्ताव' कहा था। श्री एन० आर० राघवाचारी इन्हे 'ललित पदावली में व्यक्त उच्च ध्वनित भावनाओं की ऐसी पक्तिया कहते हैं, जिनका वैधानिक दृष्टि से कोई महत्व नही है। प्रो० व्हीयर ने इन निर्देशक तत्त्वो को 'उद्देश्यों एवं आकाक्षाओं का घोषणा-पत्र' कहा है। प्रो० के० टी० शाह के शब्दों मे "यह एक ऐसा चैक है जिसका भुगतान बैंक की इच्छा पर छोड़ दिया गया है।" आलोचको का कहना है कि यदि संविधान मे *नैतिक उपदेश करना ही अभीष्ट था, तो बाइबिल की दस पवित्र आज्ञाओं को* सविधान मे क्यो नही लिया गया। इन तत्त्वो की आलोचना निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत की जा सकती है—

1. **न्यायिक शक्ति का अभाव**—इन तत्वों को क्रियान्वित करने के लिये न्यायिक शक्ति राज्य को बाध्य नही कर सकती। ये सिद्धान्त कानूनी महत्व से पूर्णत शून्य हैं। सर० बी० एन० राय के शब्दो मे "राज्य के नीति-निर्देशक तत्व राज्य के अधिकारियों के लिए नैतिक उपदेश के समान हैं और वे इस आलोचना के पात्र हैं कि सविधान मे नैतिक उपदेशों के लिये उचित स्थान नही है।" इस प्रकार न तो राज्य ही इन का पालन करने के लिए कानूनी तौर पर बाध्य है और न ही न्यायालयों को इन्हें लागू कराने का अधिकार प्राप्त है।

2. **अनिश्चित एवं अस्पष्ट विषयों का संग्रह**—ये सिद्धान्त अत्यन्त अनिश्चित एवं अस्पष्ट रूप से वर्णित हैं। इनमे क्रमबद्धता का पूर्ण अभाव है। डॉ० जेनिंग्स के अनुसार "नीति-निर्देशक तत्त्व किसी निश्चित तथा संगतपूर्ण दर्शन पर आधारित नहीं है। उन्हे न तो उचित रूप से क्रमबद्ध ही किया गया है और न तार्किक ढग से वर्गीकृत ही। एक ही बात को बार-बार दुहराया गया है।"

3. **राजनीतिज्ञों की स्वार्थ-सिद्धि के साधन**—इन सिद्धान्तों की व्यवस्था चतुर राजनीतिज्ञों द्वारा अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए की गई है। ये राजनीतिज्ञ अशिक्षित *भारतीय जनता को यह विश्वास दिलाकर कि इन सिद्धान्तों द्वारा घोषित व्यवस्था* को स्थापित करने का प्रयास करेंगे, मत प्राप्त करते हैं और चुनाव में सफल होने के बाद अपने वचनों को भूल जाते हैं। इसके साथ ही राज्यो के कुछ लोगों की यह माग थी कि सविधान में शिक्षा सम्बन्धी, विश्राम सम्बन्धी और बेकारी सम्बन्धी अधिकारों को सम्मिलित कर लिया जाये तथा यथा-सम्भव उन्हे मौलिक अधिकारो मे स्थान दिया जाये। ऐसे लोगो के राजनीतिक सन्तोष के लिए अथवा उनकी इच्छा पूर्ति के लिए भी निर्देशक सिद्धान्तो की व्यवस्था की गई है।

4 **एक सार्वभौम राज्य में अप्राकृतिक**—एक सार्वभौमिक राज्य मे इस प्रकार के सिद्धान्तों को ग्रहण करना अप्राकृतिक भी प्रतीत होता है। एक उच्च सत्ता अधीनस्थ सता को आदेश दे सकती है लेकिन एक सार्वभौम राज्य को इस प्रकार के आदेश देने की आवश्यकता पडे, यह अस्वाभाविक जान पडता है।

5. **भविष्य मे उन्नति में बाधक**—सविधान मे वर्णित नीति-निर्देशक तत्व *भारत की उन्नति के लिए भविष्य मे बाधक हो सकते है, क्योंकि हो सकता है किभविष्य* मे नीति-निर्देशक तत्व, समाज के लिये न केवल अनुपयोगी वरन् विरोधी बन जाएं।

6. **कोरा स्वप्न-जाल**—इन तत्त्वो द्वारा आकाक्षा के झूठे स्वप्नो को सजाया गया है क्योकि प्रत्येक समझदार व्यक्ति यह जानता है कि सविधान मे दिये गये नीति निर्देशक तत्व भारत जैसे गरीब और अशिक्षित देश मे पूरी तरह लागू नही हो सकते।

नीति-निर्देशक तत्त्वों का महत्त्व—इन आलोचनाओ के बावजूद नीति-निर्देशक तत्व पूर्णत. महत्वहीन नहीं हैं। यह सविधान का एक महत्वपूर्ण भाग है। श्री टी० के० टोपी के अनुसार "यदि भारतीय जनता और [विधान-मण्डलो में उनके प्रतिनिधि कार्यकारिणी की गतिविधियों की अच्छी प्रकार निगरानी करे तो निर्देशक सिद्धान्त अवश्य ही सामाजिक, राजनीतिक एव आर्थिक सुधारो के लिये एक प्रभावशाली साधन प्रमाणित होगे।

1. ये सिद्धान्त इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है कि ये भारत के वास्तविक लोकतन्त्र के विकास का विश्वास दिलाते है।

2. ये सिद्धान्त हमारे समक्ष कल्याणकारी राज्य का आदर्श प्रस्तुत करते है।

3. ये सिद्धान्त सरकार की असफलता को जांचने का मापदण्ड प्रस्तुत करते है।

4. ये सिद्धान्त भारतीय न्यायालयो के मार्गदर्शक है तथा उपयोगी नैतिक आदर्श हैं।

5. राज्य की नीति निर्धारित करने मे सहायता प्रदान करते है।

- पुन. एम० सी० छागला के शब्दो मे कहा जा सकता है कि "यदि इन निर्देशक तत्वों को भली प्रकार कार्यरूप दिया जाये तो हमारा देश धरती पर स्वर्ग बन जायेगा।"

(C) सरकार का गठन

प्रश्न 19–क्या भारतीय राष्ट्रपति तानाशाह बन सकता है ? उसकी शक्तियों पर क्या सीमायें हैं ?



अथवा

भारत के राष्ट्रपति का चुनाव कैसे होता है ? क्या वह संकट-कालीन शक्तियों के उपभोग द्वारा एक निरंकुश राष्ट्रपति बन सकता है ?

अथवा

क्या भारतीय राष्ट्रपति हमेशा अपने मन्त्रि-मण्डल के परामर्श के अनुसार कार्य करने को बाध्य है ? यदि ऐसा है तो उसके पद का महत्व किसमें है ?

उत्तर—भारतीय राष्ट्रपति की अद्भुत विशेषतायें—भारतीय संविधान मे एक राष्ट्रपति की व्यवस्था की गई है जो संघ कार्यपालिका का प्रधान होगा। राष्ट्रपति संविधान का वैधानिक अध्यक्ष होता है। वह अमेरिका की भांति वैधानिक और वास्तविक दोनों कार्यपालिका नहीं है। भारतीय राष्ट्रपति इंगलैण्ड के सम्राट् के समान है। यद्यपि कार्यपालिका के प्रधान का यह नामकरण अमरीकी संविधान के समान है, लेकिन भारतीय राष्ट्रपति के कार्य और शक्तियाँ अमरीकी राष्ट्रपति के स्थान पर *ब्रिटिश संविधान के सम्राट् जैसी हैं। संविधान के द्वारा केन्द्र की कार्यपालिका* शक्ति राष्ट्रपति को दी गई है किन्तु व्यवहार में उनका उपभोग मन्त्रिमण्डल ही करता है। संविधान सभा मे संविधान का प्रारूप प्रस्तुत करते हुए डॉ० अम्बेडकर ने कहा था। *"भारतीय संविधान मे राष्ट्रपति को वही स्थिति प्राप्त है जो ब्रिटिश-संविधान मे सम्राट् को। वह राज्य का प्रधान है, कार्यपालिका का नहीं।* वह राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करता है, वह राष्ट्र पर शासन नहीं करता। वह राष्ट्र का प्रतीक है। प्रशासन मे उसका स्थान औपचारिक प्रधान का है।"[1]

राष्ट्रपति पद की योग्यताए :—भारत के राष्ट्रपति पद के लिए निर्वाचित होने वाले व्यक्ति के लिए भारतीय संविधान ने निम्नलिखित योग्यताएँ निर्धारित की हैं:—

(1) वह भारत का नागरिक हो।

(2) वह 35 वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो।

(3) वह लोक-सभा का सदस्य-निर्वाचित होने की योग्यता रखता हो।

(4) वह किसी संघ या राज्य मे किसी लाभकारी पद पर न हो।

(5) वह संसद के या राज्यो के विधान-मण्डल में किसी भी सदन का सदस्य नहीं होगा, यदि इस प्रकार का कोई सदस्य राष्ट्रपति पद के लिए चुन लिया जाता है तो राष्ट्रपति का पद ग्रहण करने की तिथि से उसकी सदन की सदस्यता स्वत. ही समाप्त हो जायेगी।

राष्ट्रपति का निर्वाचन—राष्ट्रपति का निर्वाचन अप्रत्यक्ष रूप से होता है। अनु० 54 के अनुसार राष्ट्रपति का निर्वाचन एक निर्वाचक-मण्डल द्वारा होता है। जिसमे (क) संसद के समस्त निर्वाचित सदस्य तथा (ख) राज्य-विधान-मण्डलो के

1. I. C. D. vii. p. 32.

समस्त निर्वाचित सदस्य होते है । यह चुनाव एकल सक्रमणीय मत द्वारा होता है, चुनाव मे ग्रानुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली अपनाई जाती है । मतदान गुप्त होता है । निर्वाचक-मण्डल के प्रत्येक सदस्य को एक-एक मत देने से राज्यों की विधान-सभाग्रो के सदस्य बहुमत मे होने के कारण सदा ऐसे व्यक्ति को राष्ट्रपति चुन सकते हैं जिसे संसद सदस्य नही चुनना चाहते । अतः राज्यो के मध्य एक-रूपता तथा सघ और राज्यो के बीच समानता लाने के उद्देश्य से राष्ट्रपति के निर्वाचन के लिए एक विशेष पद्धति अपनाई गई । चुनाव मे सफलता प्राप्त करने के लिए उम्मीदवार के लिए न्यूनतम 'कोटा' (Quota) प्राप्त करना आवश्यक होगा । न्यूनतम कोटा निर्धारित करने के लिए निम्नांकित सूत्र अपनाया जाता है:—

$$\text{न्यूनतम कोटा} = \frac{\text{दिए गए मतों की सख्या}}{\text{निर्वाचित होने वाले प्रतिनिधियों की सख्या}} + 1$$

न्यूनतम कोटा की व्यवस्था इसलिए की गई है ताकि स्पष्ट बहुमत प्राप्त होने पर ही एक व्यक्ति को राष्ट्रपति पद प्राप्त हो सके ।

किसी राज्य की विधान-सभा के प्रत्येक निर्वाचित सदस्य की मतसंख्या—किसी राज्य की जन-सख्या को उस राज्य की विधान-सभा के निर्वाचित सदस्यों की संख्या से भाग देते हैं, जो भागफल आता है उसको फिर से 1000 का भाग दिया जाता है । इस प्रकार जो भागफल ग्राता है उतने ही मत देने का उस राज्य की विधान-सभा के प्रत्येक निर्वाचित सदस्य को अधिकार होगा । इसको फार्मूले के रूप मे इस प्रकार रखा जा सकता है:—

$$\frac{\text{राज्य की कुल जनसंख्या}}{\text{राज्य विधान-सभा के कुल निर्वाचित सदस्यो की सख्या}} \div 1000$$

उदाहरणार्थ मान लीजिए किसी राज्य की जन-संख्या 3600502 है और विधान-सभा के निर्वाचित-सदस्यों की सख्या 180 है तो एक सदस्य के मतों की सख्या होगी—$\frac{3600502}{180} \div 1000$

3600502 में 180 का भाग देने से भजनफल 20002 आता है जिसमे भाग देने से—

```
1000 ) 20002 ( 20
       20000
       -----
         ×2
```

इस प्रकार यह ज्ञात हुआ किसी प्रदेश की विधान-सभा के प्रत्येक निर्वाचित सदस्य का मत राष्ट्रपति के चुनाव मे 20 मतो के बराबर होगा । इससे विध‒ के 180 सदस्यो के मत का मूल्य (180 × 20) 3600 हुआ ।

यह ध्यान रखना चाहिए कि 1000 के भाग देने के बाद जो शेप बचता है वह यदि 500 से कम हुआ तो वह छोड़ दिया जाता है, परन्तु अगर 500 से अधिक हुआ तो प्रत्येक सदस्यो के मत में एक और जोड़ दिया जाएगा।

संसद के प्रत्येक निर्वाचित सदस्य की मत सख्या—ससद के प्रत्येक निर्वाचित सदस्य की मत सख्या निश्चित करने के लिए सब राज्यो की विधान-सभाओं के निर्वाचित-सदस्यो के कुल मतो की सख्या ससद की दोनों सभाओं के निर्वाचित सदस्यो की सख्या से भाग दे दिया जावे। जो योगफल आयेगा। उसमे आधे से अधिक भिन्न को एक गिना जायेगा, तथा अन्य भिन्नों की उपेक्षा की जायेगी। फार्मूले के रूप मे इस प्रकार रखा जा सकता है—

राज्य-विधान-सभाओं के सभी सदस्यों के कुल मतो की संख्या — ससद के दोनो सदनों के निर्वाचित-सदस्यों की संख्या। उदाहरण स्वरूप 1967 के राष्ट्रपतीय चुनाव मे समस्त राज्यो की विधान-सभाओं के सदस्यों को प्राप्त कुल मत सख्या 4,30,851 थी। ससद के *निर्वाचित-सदस्यो की संख्या 748 थी। प्रत्येक* ससद-सदस्य के प्राप्त मतो की सख्या

$$= \frac{430,851}{748} = 576\frac{3}{748}$$

चू कि शेप भाजक के आधे से कम है, इसलिए प्रत्येक ससद-सदस्य की मत सख्या 576 थी।

एकल संक्रमणीय मत पद्धति—राष्ट्रपति का चुनाव एकल संक्रमणीय मत पद्धति द्वारा होता है। उदाहरण स्वरूप, यदि राष्ट्रपति पद के लिए चार प्रत्याशी हे तो प्रत्येक निर्वाचक अपने मत-पत्र मे प्रत्याशियो के नाम के आगे 1, 2, 3, 4 चिन्ह लगाकर अपनी पसन्द (Preference) प्रकट करेगा। अगर किसी एक प्रत्याशी को अन्य सभी प्रत्याशियों को मिले कुल मतो से अधिक मत प्राप्त हो जाते है तो वह निर्वाचित घोपित किया जाएगा। अगर कोई प्रत्याशी प्रथम गणना मे नही निर्वाचित होता है तो *न्यूनतम मत प्राप्त करने वाले* प्रत्याशी को निकाल दिया जाता है। इस अन्तिम प्रत्याशी के द्वितीय पसन्द (second preference) के मत अन्य प्रत्याशियों मे विभाजित कर दिये जाते हैं। अगर इस पर भी किसी प्रत्याशी को *स्पष्ट बहुमत प्राप्त नही होता है तो पुनः न्यूनतम मत प्राप्त करने वाले प्रत्याशी का* निकाल दिया जाता है और इसे प्रथम पसन्द प्रदान करने वाले निर्वाचकों की द्वितीय पसन्द को अन्य शेप प्रत्याशियो मे विभाजित कर दिया जाता है। इस दशा मे अधिकतम मत प्राप्त करने वाले प्रत्याशी को विजयी घोपित कर दिया जाता है।

वेतन और भत्ते एवं अन्य उपलब्धियाँ—राष्ट्रपति को 10,000 रुपए प्रति-*माह वेतन मिलता है। उसे* बिना किराए को एक सरकारी आवास उपलब्ध होगा जिसे 'राष्ट्रपति भवन' कहते हैं। इसके अलावा उसे शिमला में 'राज-भवन' तथा

हैदराबाद के निकट बोलाराम में 'निलायम' भी उपलब्ध होगा। जब तक संसद इस संबध मे किसी विधि का निर्माण नही करती तब-तक उसके वेतन, भत्ते तथा अन्य विशेषाधिकारो मे उसके कार्य-काल मे कम नही किए जा सकते। अवकाश प्राप्ति के बाद जीवन-पर्यन्त उसे 15,000 रुपए पेंशन तथा 12,000 रुपए व्यक्तिगत सचिवालय के लिए वार्षिक मिलते हैं।

उन्मुक्तियाँ—राष्ट्रपति अपने पद के अधिकारो तथा शक्तियों का प्रयोग करते हुए जो कोई भी कार्य करे उसके संबंध में उसके विरुद्ध किसी न्यायालय मे मुकद्दमा नहीं चलाया जा सकता। यद्यपि भारतीय संघ के सभी कार्य राष्ट्रपति के नाम पर होते है, लेकिन उन कार्यों के लिए वह व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी नही है। जब-तक राष्ट्रपति अपने पद पर आसीन है, तब-तक उसके विरुद्ध किसी दीवानी या फौजदारी न्यायालय मे कोई भी मुकद्दमा नही चलाया जा सकता। उसकी गिरफ्तारी के लिए न तो कोई वारन्ट जारी किया जा सकता है और न ही उसे कैद किया जा सकता है। यदि किसी व्यक्ति का उस पर किसी प्रकार का दावा (Claim) हो तो दो महीने का नोटिस देने के बाद ही किसी प्रकार की कार्यवाही की जा सकती है।

कार्यकाल—राष्ट्रपति का कार्यकाल 5 वर्ष निश्चित किया गया है। वह इस समय से पहले भी अपने पद का त्याग कर सकता है। त्यागपत्र मे उसे अपने हस्ताक्षर सहित उपराष्ट्रपति को सम्बोधन करना होगा। उपराष्ट्रपति इस त्यागपत्र को तुरन्त लोकसभा मे भेजेगा। यदि राष्ट्रपति संविधान का उल्लंघन करता है तो उसे महाभियोग के द्वारा हटाया जा सकता है। राष्ट्रपति पुनर्निवाचित हो सकता है।

महाभियोग—संसद का कोई भी सदन राष्ट्रपति के विरुद्ध महाभियोग का प्रस्ताव उपस्थित कर सकता है। ऐसे प्रस्ताव पर उस सदन के कम से कम एक चौथाई सदस्यो के हस्ताक्षर होने चाहिए। इस प्रस्ताव का लिखित नोटिस कम से कम 14 दिन पूर्व होना चाहिए। यदि यह प्रस्ताव सदन के कुल सदस्यों के दो तिहाई बहुमत मे पारित हो जाता है तो उसे दूसरे सदन में भेजा जाएगा। दूसरा सदन इस संबंध मे जाच-पडताल करके अपने कुल सदस्यो के कम से कम दो तिहाई बहुमत से महाभियोग के प्रस्ताव को पारित कर दे तो राष्ट्रपति को अपने पद से विमुक्त होना पडता है। राष्ट्रपति को यह अधिकार है कि वह सदन में स्वयं उपस्थित होकर या अपने किसी प्रतिनिधि द्वारा महाभियोग की जाँच मे हिस्सा ले सकता है।

मृत्यु, महाभियोग या त्यागपत्र के कारण राष्ट्रपति का पद रिक्त होने पर यथा संभव 6 माह के अन्दर-अन्दर नया निर्वाचन हो जाना चाहिए। जब तक उसका उत्तराधिकारी राष्ट्रपति पद ग्रहण नही करता है तब तक राष्ट्रपति अपने पद पर निश्चित अवधि की समाप्ति के उपरांत भी अपने पद पर आसीन रहेगा। नए राष्ट्रपति की अवधि भी 5 वर्ष होगी।

राष्ट्रपति की शक्तियाँ—भारतीय राष्ट्रपति को संविधान के द्वारा अनेक शक्तियाँ प्रदान की गई हैं जो निम्नलिखित हैं—

1. कार्य-पालिका संबंधी शक्तियाँ।
2. व्यवस्थापिका-संबंधी शक्तियाँ।
3. न्यायपालिका-संबंधी शक्तियाँ।
4. वित्त-संबंधी शक्तियाँ।
5. संकट-कालीन शक्तियाँ।

1 कार्य-पालिका-संबंधी शक्तियाँ—संविधान के अनु. 53 के अनुसार "संघ की कार्य-पालिका की शक्ति राष्ट्रपति में निहित होगी तथा वह इसका प्रयोग संविधान के अनुसार या तो स्वयं अथवा अपने अधीनस्थ कर्मचारियों द्वारा करेगा।" इस प्रकार शासन का समस्त कार्य राष्ट्रपति के नाम से होगा और सरकार के समस्त-महत्वपूर्ण निर्णय उसके माने जाएंगे। वह थल-जल और वायु-सेना का नायक है। भारत के प्रधानमंत्री की नियुक्ति भी राष्ट्रपति करेगा तथा प्रधानमंत्री की सलाह से अन्य मंत्रियों को चुनेगा। राष्ट्रपति भारत के सर्वोच्च-न्यायालय के न्यायाधीशों, उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों, भारत के नियंत्रक महालेखा परीक्षक, विदेशों के दूत, संघ लोक-सेवा आयोग के सभापति एवं दूसरे सदस्यों, राज्यों में गवर्नरों तथा भारत के महा-न्यायवादी की नियुक्ति करता है। निर्वाचन तथा वित्त-आयोगों को राष्ट्रपति ही नियुक्त करता है। यदि कभी एक राज्य और दूसरे राज्य में कोई विरोध हो जाए तो उनके निपटारे के लिए अन्तर्राज्य कौंसिल राष्ट्रहित के द्वारा ही नियुक्त होगी। वही उस कौंसिल को भी बनाएगा जो संघ और राज्यों के बीच योजनाओं और नीतियों में समन्वय स्थापित करेगी।

राष्ट्रपति केन्द्रीय सरकार की कार्यविधि के बारे में नियम बनाता है और मंत्रियों के बीच कार्य-विभाजन करता है। केन्द्र-प्रशासित क्षेत्र के प्रशासन का उत्तरदायित्व उस पर होता है।

वह मंत्रि-परिषद् के कार्यों या शासन से संबंध रखने वाली दूसरी सूचनाएँ प्रधानमंत्री से प्राप्त कर सकता है। वह ऐसे मामलों को मंत्रि-परिषद् के सामने भेज सकता है जिन पर विभाग के मंत्रियों ने निर्णय कर लिया है, लेकिन जिन्हें वह मंत्रि-परिषद् के विचार के लायक समझता है। राष्ट्रपति को राज्य-सरकारों को निर्देशित, नियंत्रित तथा समन्वित करने का अधिकार प्राप्त है।

2 व्यवस्थापिका संबंधी शक्तियाँ—अनु. 79 के अनुसार "संघ के लिए एक संसद होगी जो राष्ट्रपति दोनों सदनों-राज्य-सभा एवं लोकसभा से मिलकर बनेगी।" भारत का राष्ट्रपति संसद का अंग होगा। संसद का सदस्य न होते हुए भी राष्ट्रपति को व्यापक व्यवस्थापिका संबंधी-शक्तियाँ प्राप्त है।

राष्ट्रपति संसद के सत्रों को आहूत करता है तथा सत्रावसान करता है। उसे क-सभा को विघटित करने का अधिकार प्राप्त है। राष्ट्रपति-संसद के किसी एक

सदन या दोनों सदनों की संयुक्त बैठक में अभिभाषण देता है। राष्ट्रपति संसद के किसी भी सदन को संदेश भेज सकती है।

संसद द्वारा पारित प्रत्येक विधेयक राष्ट्रपति के समक्ष उसकी स्वीकृति के लिए प्रस्तुत किया जाता है। वह विधेयक पर स्वीकृति दे सकता है अथवा स्वीकृति देने से इन्कार कर सकता है। वह साधारण विधेयक को कुछ सुझावों के साथ पुनर्विचारार्थ संसद को लौटा सकता है। अगर विधेयक पुनः संशोधन या बिना संशोधन के संसद द्वारा पारित हो जाता है तो राष्ट्रपति को दूसरी बार स्वीकृति देनी पड़ेगी।

राष्ट्रपति को संसद के विरामकाल (Recess) मे अध्यादेश जारी करने की महत्वपूर्ण शक्ति प्राप्त है। राष्ट्रपति राज्य-सभा के लिए ऐसे 12 राज्यों को मनोनीत करता है जिन्हें, साहित्य, विज्ञान, कला या सामाजिक सेवा के संबंध मे विशेष ज्ञान हो।

3 न्याय-पालिका संबंधी शक्तियां—भारतीय-राष्ट्रपति को न्यायालयो द्वारा दण्डित व्यक्तियों को क्षमा करने, उनकी सजा कम करने का अधिकार है। निम्न-लिखित प्रकार से सजा पाए हुए व्यक्तियों के संबंध में राष्ट्रपति उपरोक्त शक्ति का प्रयोग कर सकता है—

1. उन सब बातो में जहाँ दण्ड सैनिक-न्यायालय द्वारा दिया गया हो।
2. उन बातो में जहां मृत्यु-दण्ड दिया गया हो।
3. यदि उसे संघ के कानून का उल्लंघन करने के लिए दण्ड दिया गया हो।

किन्तु राष्ट्रपति की क्षमादान-शक्ति का राज्यो के राज्य-पालो और सैनिक न्यायालय के सैनिक अधिकारियों की क्षमादान संबंधी शक्ति पर कोई प्रभाव नही पड़ेगा। राष्ट्रपति अपने क्षमादान के अधिकार का प्रयोग अपने मंत्रियों की मंत्रणा के आधार पर ही करता है।

4. वित्तीय शक्तियां—राष्ट्रपति प्रत्येक वित्तीय वर्ष के प्रारम्भ में संसद के दोनो के समक्ष भारत सरकार की उस वर्ष के लिए आय और व्यय का विवरण रखा जाएगा। उसकी अनुमति के बिना वित्त-विधेयक और अनुदान की मांगें लोक-सभा में प्रस्तावित नही की जा सकती। भारत की आकस्मिक-निधि पर भी उसका नियन्त्रण होता है। उसे एक वित्तीय आयोग नियुक्त करने का अधिकार है। आयकर की राशि को केन्द्रीय और राज्य सरकारो में बांटने तथा पटसन से होने वाली आय के बदले पश्चिम बंगाल, बिहार और उड़ीसा को आर्थिक सहायता देने का कार्य भी वही करता है।

5. संकट-कालीन शक्तियां—संकट-काल का सामना करने के लिए राष्ट्र-पति को व्यापक शक्तियां प्रदान की गई हैं। ऐसी अवस्था में समस्त शक्तियां उसी मे सिमट जाती है। संविधान में तीन अवस्थाओं के उत्पन्न होने पर उसे ये शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं—

1. युद्ध, वाह्य आक्रमण व आंतरिक अशांति से उत्पन्न संकट—यदि राष्ट्रपति को यह अनुभव हो कि युद्ध, वाह्य आक्रमण या आन्तरिक अशांति के कारण भारतवर्ष मे शांति तथा सुव्यवस्था नष्ट होने का भय है तो ऐसी अवस्था में राष्ट्रपति संकटकाल की घोषणा कर सकता है। इस घोषणा को शीघ्र से शीघ्र ससद के सामने उपस्थित होना चाहिये। घोषणा की अवधि दो महीने से अधिक नही रखी गई है। इस अवधि को ससद अपने निर्णय से बढा सकती है। किन्तु एक बार मे इसकी अवधि छ महीने से अधिक नही बढाई जा सकती। कुल मिलाकर तीन वर्ष से अधिक नही बढाई जा सकती।

इस अवस्था मे सघ के हाथ मे राज्यो की सारी शक्ति आ जाती है। नागरिकों के मूल अधिकार निलम्बित हो जाते हैं तथा राष्ट्रपति सघ और राज्यों के बीच हुए धन के बटवारे में भी परिवर्तन कर सकता है।

2. राज्यों मे सवैधानिक तंत्र विफल होने से उत्पन्न संकट—यदि राष्ट्रपति को किसी भी राज्यपाल इस बात की सूचना दे कि अमुक राज्य मे सविधान के ढंग से शासन चलना कठिन है तो ऐसी अवस्था में राष्ट्रपति उस राज्य मे संकट-काल की घोषणा कर सकता है। ऐसी घोषणा के समय राष्ट्रपति राज्य के गवर्नर की की सारी शक्ति अपने हाथ मे ले सकता है और विधान-मण्डल की शक्तियो का स्थानांतरण संघ-ससद मे कर सकता है। राज्य के विधान-मण्डल के कानून बनाने का अधिकार ससद राष्ट्रपति को या उसके कहने पर अन्य किसी को दे सकती है।

आर्थिक सकट—यदि राष्ट्रपति यह अनुभव करे कि पूरी भारत सीमा या उसके किसी भाग की आर्थिक साख या व्यवस्था खतरे में है तो यह आर्थिक संकट की घोषणा कर सकता है। ऐसी स्थिति मे राष्ट्रपति को राज्यो की सरकारो पर पूर्ण रूप से अंकुश रखने की शक्ति मिल जायगी। वह उनके लिए आवश्यक आदेश जारी कर सकता है और सरकारी सेवको के वेतन आदि घटा सकता है। ऐसे काल मे विधान-मण्डल से पास सभी धन-विधेयक राष्ट्रपति की अनुमति के लिए भेजे जाएँगे क्योंकि संकट की घोषणा के बाद राज्य-पाल की शक्तियाँ काम नही करेंगी।

राष्ट्रपति की वास्तविक स्थिति—सविधान की धाराओ पर दृष्टि-पात करने से ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय राष्ट्रपति अत्यन्त शक्तिशाली है। किन्तु व्यवहार में वह इतना शक्तिशाली नही है जितना सविधान की धाराओं से प्रतीत होता है। क्योंकि उसकी शक्तियो का प्रयोग व्यवहार मे मन्त्रिमंडल के द्वारा किया जाता है। वह तो केवल मात्र एक सवैधानिक प्रधान है जिसके नाम से समस्त कार्य होते हैं। चूंकि मन्त्रिमण्डल लोकसभा के प्रति उत्तरदायी है और राष्ट्रपति किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं है अतः स्वाभाविक है कि जहाँ उत्तरदायित्व रहेगा वहाँ सत्ता एवं शक्ति का अस्तित्व भी अवश्य रहेगा। इस प्रकार राष्ट्रपति केवल मात्र राज्य का

मुखिया है, संवैधानिक प्रधान है जो राज्य करता है शासन नहीं। संविधान सभा के अध्यक्ष डा० अम्बेडकर ने इस सम्बन्ध में कहा था, "राष्ट्रपति की वही स्थिति है, ब्रिटिश संविधान में सम्राट् की है। वह राष्ट्र का प्रधान है कार्यपालिका का नही। वह राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करता है, उसका निर्माण नही। वह साधारणतया मंत्रियों के परामर्श को मानने के लिए बाध्य होगा। वह न तो उनके परामर्श के विरुद्ध कुछ कर सकता है और न उनके परामर्श के बिना ही।"

प्रश्न 20—भारतीय संसद के गठन, शक्तियों एवं अधिकारों की विवेचना कीजिए।

अथवा

क्या संसद मौलिक अधिकारों में संशोधन कर सकती है ? इस आधार पर संसद के कार्यों का उल्लेख कीजिए।

अथवा

"भारतीय संसद की लोकसभा की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली है।" यह कथन कहाँ तक तथ्यगत है ?

अथवा

भारतीय संसद का गठन जनतन्त्रात्मक आधार पर किया जाता है। दोनों सदन कहाँ तक जनता के प्रति उत्तरदायी हैं ?

उत्तर—संसद का गठन—भारतीय संसद राष्ट्रपति, राज्य-सभा और लोक-सभा से मिलकर बनी है। यह व्यवस्था संसदीय पद्धति की परम्परा के अनुकूल ही है। इंग्लैण्ड में भी संसद सम्राट् तथा दो सदनों-लॉर्ड सभा तथा कॉमन-सभा से मिलकर बनी है। इसके विपरीत अमरीका मे, जहाँ शासन का आधार शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त है, राष्ट्रपति व्यवस्थापिका का अंग नही है। किन्तु संसदीय पद्धति का आधारभूत सिद्धान्त शक्तियों का समन्वय है अतः इसके लिए कार्य पालिका व व्यवस्थापिका मे सम्बन्ध अनिवार्य है।

किन्तु इस सम्बन्ध मे इंग्लैण्ड की संसद के अधिक समीप होते हुए भी यह ब्रिटेन की संसद की भांति पूर्णतया प्रभुसत्ता-सम्पन्न विधान-मण्डल नही है। सामान्य काल मे इसकी विधि-निर्माण की शक्तियाँ संघीय तथा समवर्ती सूचियो द्वारा सीमित रहती है। इसके अलावा इसकी सर्वोच्च सत्ता उन मूल अधिकारों द्वारा सीमित रहती है जिनकी नागरिकों को गारन्टी की गई है। राज्य को कोई ऐसा कानून बनाने की अनुमति नहीं है, जिससे किसी भी मूल अधिकार का उल्लंघन होता हो, या वह कम होता हो। यदि वह ऐसा कोई कानून बनाए तो न्यायालय उसे निष्फल कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त न्यायालयों को यह निर्णय करने की शक्ति प्रदान की गई है कि संसद द्वारा पास किया गया कोई विशिष्ट कानून संविधान के अनुकूल है या नही। इस प्रकार भारत मे अमरीका की भांति संसद की सर्वोच्चता को

वरन् संविधान की सर्वोच्चता को (न्यायपालिका को उसका अभिभावक व संरक्षक बनाकर) स्वीकार किया गया है। इस प्रकार दुर्गादास वसु के शब्दों में "भारतीय संविधान में अद्भुत ढंग से अमरीकी न्यायालय की सर्वोच्चता के सिद्धान्त एवं इंग्लैंड की संसदीय प्रभुसत्ता के बीच का मार्ग अपनाया गया है।"

किन्तु, यद्यपि संसद का प्राधिकार सीमित है, फिर भी यह ठीक ही कहा गया है कि यही वह धुरी है जिस पर सरकार का सारा यन्त्रजाल घूमता है। आपात-काल में संसद इसके विधि-निर्माण हट जाते हैं। इसे विपुल शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं और राष्ट्रपति तथा मन्त्रिपरिषद् के साथ मिलाकर यह भारतीय राज्य के सर्वोच्च प्रभु की भूमिका अदा करती है।

राज्य-सभा का संगठन—संविधान के अनुसार राज्यसभा की अधिक से अधिक सदस्य संख्या 250 होगी जिसमें 12 सदस्य राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किये जायेंगे। राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत 12 सदस्य ऐसे होंगे जिन्होने साहित्य, कला, विज्ञान और समाज-सेवा के क्षेत्र में ख्याति प्राप्त की हो। शेष सदस्य राज्यों के प्रतिनिधि होते हैं। वे उन राज्यों की विधानसभाओं के निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा एकल संक्रमणीय मत द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली के अनुसार निर्वाचित होते हैं। केन्द्र-शासित प्रदेशों के प्रतिनिधि उस रीति से चुने जाते हैं, जो उनके लिए संसद ने कानून बनाकर नियत की हो। अन्य संघों के विपरीत, राज्यसभा में, भारतीय संघ की इकाइयों को समान प्रतिनिधित्व नहीं दिया गया है। संविधान निर्माताओं के राज्यों की समानता के प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त को अप्रजातान्त्रिक करार दिया। अतः राज्यों के बीच प्रतिनिधित्व के वितरण का मूल्य आधार उनकी जनसंख्या है। लेकिन छोटे राज्यों को इस सम्बन्ध में कुछ प्रभार दिया गया है। प्रत्येक 10 लाख जनसंख्या पर किसी राज्य को एक स्थान दिया जाता है, किन्तु इस प्रकार 50 लाख जनसंख्या तक 5 प्रतिनिधि उक्त राज्य से आ सकते हैं और यदि किसी राज्य की जनसंख्या 50 लाख से अधिक होगी तो 50 लाख से ऊपर प्रत्येक 20 लाख जनसंख्या पर एक प्रतिनिधि भेजा जा सकेगा। इस प्रकार यह भारतीय राज्य-सभा की एक असामान्य विशेषता है। सभी संघों में सामान्यतः प्रतिनिधित्व की समानता रखी गई है। अमरीकी सीनेट में 100 सदस्य होते हैं जिनमें प्रत्येक राज्य के दो-दो प्रतिनिधि होते है। आस्ट्रेलिया की सीनेट की सदस्य संख्या 70 है, प्रत्येक इकाई 7 प्रतिनिधियों को भेजती है। स्विट्जरलैण्ड की राज्य-सभा में 44 सदस्य हैं, प्रत्येक पूर्ण केन्टन से दो तथा प्रत्येक अर्द्ध केन्टन से एक। यहाँ तक कि कनाडा की सीनेट की रचना में भी इस सिद्धान्त को ध्यान में रखा गया है। संघीय एककों समान प्रतिनिधित्व नहीं दिया गया है, लेकिन सम्पूर्ण उपनिवेश को चार क्षेत्रों में बाँट कर प्रत्येक क्षेत्र को 24 प्रतिनिधि भेजने का अधिकार दिया गया है।

इस समय राज्य-सभा की कुल सदस्य संख्या 238 है। इसमें 227 निर्वाचित सदस्य हैं 12 राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत। 226 निर्वाचित सदस्य राज्यों से निम्न

प्रकार हैं—आन्ध्र प्रदेश 18, असम 7, बिहार 22, केरल 9, गुजरात 11, मध्य-प्रदेश 16, पंजाब 7, हरियाणा 5, राजस्थान 10, उत्तर-प्रदेश 34, पश्चिमी बंगाल 16, जम्मू कश्मीर 24, मद्रास 18, महाराष्ट्र 19, मैसूर 12, उड़ीसा 10, दिल्ली 3, हिमाचल-प्रदेश 3, मणिपुर 1, त्रिपुरा 1।

द्वितीय सदन में सदस्यों के नामांकन को आलोचक अप्रजातांत्रिक बताते हैं, किन्तु भारत में इस प्रणाली को आयरलैंड के गणतन्त्रीय संविधान से लिया गया है जिसका उद्देश्य विशेष ज्ञान, सेवा तथा अनुभव-प्राप्त लोगों से लाभ उठाना है।

राज्य-सभा एक स्थाई सदन है, इसका विघटन नहीं होता। इसके सदस्यों का निर्वाचन 6 वर्ष के लिए होता है, लेकिन लगभग एक तिहाई सदस्य हर प्रति दो वर्षों पर कार्य निवृत्त हो जाते हैं तथा उनके स्थान पर नये सदस्यों का निर्वाचन होता है। कोरम के लिये इसकी सदस्य-संख्या का दसवाँ भाग उपस्थित रहना आवश्यक है।

भारत का उपराष्ट्रपति राज्य-सभा का प्रधान सभापति होता है। उप-सभापति पद के लिए राज्य-सभा अपने किसी सदस्य को बहुमत से चुन सकती है। अमरीका में भी उपराष्ट्रपति इसी प्रकार सीनेट का पदेन सभापति होता है।

राज्य-सभा के कार्य—राज्य-सभा के कार्यों को निम्नांकित शीर्षकों के अतर्गत रखा जा सकता है—

1. व्यवस्थापिका सम्बन्धी कार्य—राज्य-सभा और लोक-सभा सह-कर्मी कानून निर्मात्री सदन है। वित्त-विधेयक को छोड़कर अन्य विधेयकों के सम्बन्ध में दोनों सदनों को लगभग समान अधिकार प्राप्त हैं। साधारण विधेयक लोक-सभा के सदृश राज्य-सभा में भी पुरःस्थापित हो सकता है। कोई भी विधेयक एक सदन द्वारा स्वीकृत होने के बाद दूसरे सदन में विचारार्थ भेजा जाता है। दोनों सदनों द्वारा पारित होने पर उस पर राष्ट्रपति की स्वीकृति ली जाती है।

अगर किसी विधेयक के सम्बन्ध में दोनों में गतिरोध उत्पन्न हो जाये तो राष्ट्रपति दोनों सदनों की संयुक्त बैठक बुलाकर बहुमत द्वारा अन्तिम निर्णय कराता है।

निष्कर्षतः राज्य-सभा किसी साधारण विधेयक के पारित होने में अधिक से अधिक 6 महीने की देरी लगा सकती है। विधेयक को सदा के लिये समाप्त करने का अधिकार इसे प्राप्त नहीं है।

2. वित्तीय कार्य—वित्तीय मामलों में राज्य-सभा की स्थिति कमजोर है। वित्त विधेयक इस सदन में पुरःस्थापित नहीं किये जा सकते हैं। लोक-सभा द्वारा पारित होने के बाद वित्त विधेयक राज्य-सभा में भेजा जाता है, जिसे राज्य-सभा को 14 दिनों के अन्दर अपने सुझावों के साथ लौटा देना पड़ता है। उसके सुझावों को मानना या न मानना लोक-सभा पर निर्भर होता है। अगर राज्य-सभा 14 दिन अन्दर वित्त-विधेयक को नहीं लौटाती है या अगर उसके सुझावों को लो-

स्वीकृत नहीं करती है तो विधेयक को उसी रूप में पारित समझा जायेगा जिस रूप में लोक-सभा ने मूलतः पारित किया हो। वित्तीय मामलों पर मत देने का अधिकार एकमात्र लोक-सभा को है।

3. प्रशासनिक कार्य—संविधान में मन्त्रि-परिषद् को लोक-सभा के प्रति उत्तरदायी ठहराया है। राज्य-सभा का मन्त्रि-परिषद् पर कोई नियंत्रण नहीं है किन्तु यह उसे प्रभावित अवश्य करती है। राज्य-सभा के सदस्य सरकार की आलोचना कर उसे सजग कर सकते हैं प्रश्न तथा पूरक प्रश्न द्वारा कार्यपालिका से कोई भी सूचना मांगी जा सकती है। अनिवार्य प्रशासनिक विषयों पर वाद-विवाद करने के लिए काम रोको प्रस्ताव लाया जा सकता है। मंत्री राज्य-सभा के सदस्य न रहते हुए भी उसकी कार्यवाही में भाग ले सकते है।

4. संविधान सम्बन्धी अधिकार—राज्य-सभा संविधान के संशोधन में भाग लेती है। संशोधन विधेयक के लिए यह आवश्यक है कि वह संसद के प्रत्येक सदन की सम्पूर्ण सदस्य-संख्या के बहुमत से तथा उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों के दो तिहाई बहुमत से पारित होने पर संविधान में संशोधन हो सकता है।

5. विविध कार्य—(i) राज्य-सभा के निर्वाचित सदस्य राष्ट्रपति के निर्वाचन मे भाग लेते हैं।

(ii) राष्ट्रपति पर महाभियोग के सम्बन्ध में भी राज्य-सभा को लोक-सभा के समस्तरीय अधिकार प्राप्त हैं। महाभियोग का प्रस्ताव संसद के किसी भी सदन में पुरः स्थापित किया जा सकता है। उस सदन के दो तिहाई सदस्यों द्वारा स्वीकृत होने के बाद दूसरा सदन न्यायाधिकरण के रूप में आरोपों की जाँच करता है। अगर इस सदन में भी दो तिहाई बहुमत द्वारा आरोपों को स्वीकृत कर लिया जाता है तो राष्ट्रपति को पद से हटना पड़ता है।

(iii) अगर राज्य-सभा सम्पूर्ण सदस्य सख्या के बहुमत से तथा उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों के दो तिहाई बहुमत से प्रस्ताव पारित कर यह घोषित करे कि राज्य-सूची में उपस्थित कोई विषय राष्ट्रीय महत्त्व का है तो संसद उस पर कानून बना सकती है। ऐसा प्रस्ताव एक वर्ष से अधिक प्रकरण नहीं रहता।

(iv) दो मास से अधिक की अवधि तक प्रवर्तित रहने के लिए आपात् उद्-घोषण का अनुमोदन राज्य-सभा तथा लोक-सभा द्वारा आवश्यक है। लोक-सभा के विघटन की स्थिति में केवल राज्य-सभा का अनुमोदन ही आवश्यक है, जब तक कि नव निर्वाचित लोक-सभा द्वारा अनुमोदन प्राप्त नहीं होता है। आपात्काल में मौलिक अधिकारों के निलंबन के लिए दिए गए आदेश को यथा शीघ्र संसद के दोनों सदनो के समक्ष रखा जाना चाहिए।

(v) सर्वोच्च न्यायालय या किसी न्यायाधीश को सिद्ध सदाचार अथवा असमर्थता के आधार पर संसद के दोनो सदनों द्वारा पारित समावेदन पर राष्ट्रपति

द्वारा हटाया जा सकता है। ऐसा समावेदन भी प्रत्येक सदन की समस्त संख्या के बहुमत द्वारा तथा उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों मे से कम से कम दो तिहाई के बहुमत द्वारा स्वीकृत होना चाहिए।

(vi) उपराष्ट्रपति का निर्वाचन ससद के दोनो सदनों की सयुक्त बैठक में होता है। उसे राज्य-सभा के एक प्रस्ताव द्वारा, जिसे लोक-सभा ने स्वीकार कर लिया हो, हटाया जा सकता है।

(vii) राज्य-सभा को एक या एक से अधिक अखिल भारतीय सेवाएँ निर्मित करने का अधिकार प्राप्त है। इसके लिए सदन में उपस्थित और मत-दान करने वाले कम-से-कम दो तिहाई सदस्यो द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव मे यह घोषित किया जाये कि ऐसा किया जाना देश के हित मे आवश्यक है।

इस प्रकार लोकसभा से अपेक्षाकृत महत्वहीन होते हुए भी राज्यसभा अनेक कार्य संपन्न करती है।

लोकसभा का संगठन—लोकसभा भारतीय ससद का 'प्रथम' अथवा 'निम्न' सदन है। यह जनता का प्रतिनिधि सदन है। इसके सदस्यों का निर्वाचन जनता द्वारा प्रत्यक्ष रीति से होता है। अनु. 332 के अनुसार राष्ट्रपति दो आंग्ल-भारतीय सदस्यो का मनोनयन कर सकता है। अगर उसके विचार मे इस समुदाय को अन्य प्रकार से समुचित प्रतिनिधित्व प्राप्त न हुआ हो। साथ ही एक सदस्य उत्तर-पूर्वी सीमा एजेंसी को भी मनोनीत किया जाता है। कुछ स्थान अनुसूचित आदिम जातियो के लिए भी सुरक्षित रखे गए है।

सदस्यो के निर्वाचन के लिए राज्य को निर्वाचन क्षेत्रों मे बाँट दिया जाता है। पहले यह व्यवस्था थी कि साढे सात लाख जनसंख्या पर कम से कम एक सदस्य तथा पाँच लाख जनसख्या पर अधिक से अधिक एक सदस्य होगा। किन्तु 1952 तथा 1956 के सशोधन अधिनियम द्वारा अब इन प्रतिबन्धो को समाप्त कर दिया गया है। केन्द्र प्रशासित प्रतिनिधियों का चुनाव संसद के द्वारा बनाए गए कानून के द्वारा होता है।

सदन का कार्यकाल 5 वर्ष का होता है जो उसका प्रथम अधिवेशन होने की तिथि से गिना जाता है। लेकिन राष्ट्रपति इसे इस अवधि से पहले भी भंग कर सकता है। परन्तु जिस समय आपात् घोषणा लागू हो, उस समय ससद कानून बनाकर इस सदन का कार्यकाल एक बार मे एक वर्ष के लिए बढ़ा सकती है परन्तु उस समय आपात् घोषणा की समाप्ति के बाद छ: महीने के अन्दर यह सदन भंग कर दिया जाना चाहिए।

लोकसभा का सभापतित्व अध्यक्ष करता है जो लोकसभा द्वारा अपने सदस्यों में से ही चुना जाता है। यदि वह सदन का सदस्य न रहे, तो वह अपने पद को खाली कर देता है। उपाध्यक्ष का निर्वाचन भी उसी रीति से होता है जिससे सदन अपने अध्यक्ष का निर्वाचन करता है।

लोकसभा का कोरम भी इसकी सदस्य संख्या का दसवाँ भाग है ।

लोकसभा का कार्य—संसदीय शासन प्रणाली में व्यवस्थापिका का निम्न सदन लोकप्रिय सप्रभुता की वास्तविकता प्रतिनिधिक संस्था होती है अतः इसके कार्यों का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है—

1. व्यवस्थापक कृत्य—संसद को विधि-निर्माण का पूर्ण अधिकार प्राप्त है । अ-वित्तीय विधेयकों के सम्बन्ध में लोकसभा की स्थिति राज्य-सभा के लगभग समान ही है । किन्तु दोनों में गतिरोध होने पर सयुक्त अधिवेशन राष्ट्रपति द्वारा बुलाया जाता है । इस बैठक में साधारण बहुमत द्वारा विधेयक को पारित किया जाता है । राज्य सभा की तुलना में लगभग दुगुनी सदस्य संख्या के कारण व्यवहारतः अंतिम *निर्णय लोकसभा द्वारा ही होता है । लोकसभा की इच्छा के विरुद्ध निर्णय तभी* संभव है जबकि सदनों का दलीय गठन ऐसा हो कि लोकसभा तथा राज्य सभा को मिलाकर विरोधी सदस्यों की संख्या अधिक हो जाये । अतः लोकसभा को इस संबंध में कुछ सर्वोपारिता प्राप्त हो जाती है ।

2. वित्तीय कृत्य—*मेडिन ने कहा था जिसके हाथ में धन होता है, उसी के* हाथों में शक्ति केन्द्रित रहती है । यह शक्ति साधारणतः व्यवस्थापिका के लोकप्रिय सदनों को प्राप्त होती है । भारत में भी लोकसभा का धन पर नियन्त्रण है जो अवि-वादास्पद तथ्य है । धन विधेयक को लोकसभा में ही पुरः स्थापित किया जा सकता है । लोकसभा मे पारित होने के बाद धन-विधेयक राज्य सभा में जाता है । कोई विधेयक वित्त विधेयक है या नहीं इसका निर्णय भी लोकसभा स्वीकार करती है । लोकसभा को समस्त व्यय की स्वीकृति देने का एकाधिकार प्राप्त है । अनुदान सम्बन्धी माँगें केवल लोकसभा के समक्ष रखी जाती है ।

3. कार्यकारी कृत्य—संसदीय प्रणाली में व्यवस्थापिका का एक प्रमुख कार्य '*कार्य पालिका का नियन्त्रण*' करना है । लेकिन यह अधिकार मुख्यतः लोकप्रिय सदनों में निहित रहता है । भारत में भी लोकसभा को यह अधिकार प्राप्त है । कि अनु. 75 (3) के अनुसार मंत्रिपरिषद् सामूहिक रूप से लोकसभा के प्रति उत्तरदायी है । तात्पर्य यह है कि अगर लोकसभा अविश्वास का प्रस्ताव पास कर दे तो मंत्रिपरिषद् को अपदस्थ होना पड़ता है । यद्यपि जब तक सत्तारूढ़ दल का लोकसभा में बहुमत है तब तक उसके विरुद्ध अविश्वास पास करना अत्यन्त कठिन है ।

लेकिन इसके अतिरिक्त कार्यपालिका को नियन्त्रित करने के अन्य अनेक साधन भी लोकसभा के पास हैं । सार्वजनिक महत्व की बातों पर सदस्य मंत्रियों से प्रश्न पूछते हैं । ये प्रश्न छोटी-छोटी बातों से लेकर नीति सम्बन्धी बड़ी-बड़ी बातो से संबधित हो सकते हैं । आवश्यकता होने पर पूरक प्रश्न भी पूछे जा सकते हैं ।

लोक सभा किसी सरकारी विधेयक या प्रस्ताव को अस्वीकृत कर सरकार को नियन्त्रित कर सकती है तथा गैर सरकारी सदस्य द्वारा लाए गए किसी प्रस्ताव को

स्वीकार करके लोकसभा सरकार को एक विशेष नीति को मानने के लिए बाध्य कर सकती है।

काम रोको प्रस्ताव द्वारा भी सरकार पर नियन्त्रण रखा जा सकता है। सरकार द्वारा अनुदान की माँग को अस्वीकृत कर लोकसभा मन्त्रिमण्डल की नीतियो के प्रति असन्तोष प्रकट करती है। सरकार द्वारा प्रस्तुत बजट की माँगों मे कटौती करके भी लोकसभा मंत्रिमण्डल को नियन्त्रित करती है तथा उसमें अप्रत्यक्ष रूप से अविश्वास प्रकट करती है।

सरकार का यह कर्त्तव्य है कि संसद द्वारा निर्धारित नीतियों को वह लागू करे। इसकी देख-भाल तथा जांच के लिए संसदीय समितियां नियुक्त की जाती हैं। समितियों द्वारा प्रस्तुत प्रतिवेदनों पर सदन में वाद-विवाद होता है तथा सरकार की आलोचना की जाती है। राष्ट्रपति के अभिभाषण के अवसर पर भी सरकार की आलोचना की जाती है।

(4) निर्वाचन सम्बन्धी कार्य—अनु. 54 संसद को निर्वाचन सम्बन्धी अधिकार देता है। संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्य राष्ट्रपति के निर्वाचन के लिए संगठित निर्वाचक-मंडल के अंश हैं। अनु. 66 के अनुसार संसद सदस्य दोनो के सयुक्त अधिवेशन में उपराष्ट्रपति का निर्वाचन करते है।

(5) जनता की शिकायतों का निवारण—लोकसभा के सदस्य जनता के प्रतिनिधि है। उनका कर्त्तव्य है कि जनता की शिकायत को सरकार तक पहुँचाना। विरोधी दल इस कार्य को पूरा करता है। जेनिंग्स के शब्दों में "यह ज्ञात करने के लिए कि जनता स्वतंत्र है, केवल यही ज्ञात करना आवश्यक है कि क्या कोई विरोधी दल है और यदि है तो कहाँ।" वार्षिक बजट, राष्ट्रपति का भाषण तथा अन्य मामलों में विशेषकर विरोधी दल के सदस्य पूरक प्रश्न पूछते हैं। संसद को व्यय के आकलनों, विनियोजन तथा राजस्व विधेयकों पर विचार-विमर्श के समय राज्य के विभिन्न विभागों के कार्य को समीक्षा है और आलोचना करने की शक्ति प्राप्त है। इस प्रकार की आलोचना तथा समीक्षा द्वारा सदन के सदस्य अपनी शिकायतों को दूर करवा सकते है।

(6) विविध कार्य

(i) राज्य-सभा के समान ही संविधान का संशोधन करती है।

(ii) लोकसभा राज्यसभा के समान ही न्यायाधीशों को पदच्युत कर सकती है।

(iii) उसी की भांति राष्ट्रपति के महाभियोग की क्रिया मे भाग लेती है।

(iv) उपराष्ट्रपति को हटाने के लिए राज्यसभा द्वारा पारित प्रस्ताव लोकसभा द्वारा अनुमोदित होना चाहिए।

(v) संकटकालीन घोषणा की अवधि बढ़ाने के लिए राज्यसभा के साथ लोकसभा की भी स्वीकृति आवश्यक है।

(vi) अन्त मे, लोकसभा सार्वजनिक विवाद-स्थल का कार्य करती है। मोरिस जोन्स के अनुसार "सार्वजनिक विवाद-स्थल के दो गुण हैं। प्रथम, यह दर्शकों को सामान्वित करता है तथा उसमें भाग लेने वालों को विकसित करता है।" यह सदन लोकप्रिय भावना का दर्पण तथा शिक्षक है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि विधि-निर्माण के क्षेत्र मे इसका अधिक प्रभुत्व है और वित्त की तो एकमात्र स्वामी यही है। कार्यपालिका इसी के विश्वास पर्यन्त पदारूढ़ रहती है। अपनी अनुदान देने की शक्ति के कारण यह सप के समूचे प्रशासन का नियन्त्रण करने मे समर्थ होती है। करोड़ो जनता के प्रतिनिधि के रूप में यह उनकी प्रमुख प्रवक्ता तथा उनके हितो की संरक्षक है। इसीलिए एम० पी० शर्मा ने कहा है 'अगर ससद राज्य का सर्वोच्च अग है तो लोकसभा ससद का सर्वोच्च अंग है। व्यवहारत: यही ससद है।

दोनों सदनों के मध्य सम्बन्ध—इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि ससद के दोनों सदनो का भाग लेना और दोनों का सहयोग होना सब विधि-निर्माण सम्बन्धी गतिविधियो के लिए अनिवार्य है, फिर भी सविधान ने कुछ महत्वपूर्ण पहलुओ की दृष्टि से लोकसभा को राज्यसभा की अपेक्षा ऊँचा माना है—

(1) मन्त्रिपरिषद् सामूहिक तथा व्यक्तिगत रूप से लोकसभा के प्रति उत्तरदायी है। यद्यपि राज्यसभा को मन्त्रि-परिषद् को प्रभावित करने के अनेक साधन प्राप्त हैं, लेकिन मन्त्रिपरिषद् को अविश्वास प्रस्ताव के द्वारा हटाने का उसे अधिकार नहीं है क्योकि डॉ० एम० वी० पायली के शब्दों में, "ससद के विश्वास का अर्थ है, लोकसभा का विश्वास तथा कार्यपालिका के विश्वास का तात्पर्य लोकसभा के प्रति विश्वास से है।"

(2) धन-विधेयक के सम्बन्ध मे राज्यसभा की स्थिति महत्वहीन है। इस सम्बन्ध मे निर्णायक शक्ति लोकसभा को प्राप्त है। राज्यसभा की शक्ति केवल परामर्शदात्री है। वह केवल उसमे 14 दिनों की देरी लगा सकती है।

(3) साधारण विधेयक के सम्बन्ध में दोनो सदनो को समान अधिकार प्राप्त है। यहाँ तक कि संवैधानिक संशोधन के सबंध में भी दोनो सदनो को समान शक्ति दी गई है। गत्यावरोध की स्थिति मे दोनों सदनो की संयुक्त बैठक द्वारा अन्तिम निर्णय किया जाता है। बहुसख्यक सदस्यता के कारण वस्तुत: लोकसभा की इच्छा ही अन्त में मान्य होती है। "इस प्रकार स० रा० अमरीका में अपने प्रतिरूप अर्थात् सीनेट के विपरीत भारत की राज्यसभा को अपेक्षाकृत कम शक्तियाँ प्राप्त हैं।"

इस प्रकार मूलत: राज्यसभा के ऊपर लोकसभा की सर्वोच्चता स्वीकार की गई है, लेकिन कुछ ऐसे क्षेत्र हैं जिनमे राज्यसभा को लोकसभा के समान शक्ति दी गई है। उदाहरणार्थ, राज्यसभा की सहमति के बिना लोकसभा सविधान मे संशोधन नही ला सकती है।

साथ ही कुछ ऐसे अधिकार भी हैं जो सिर्फ राज्यसभा को ही दिए गए हैं। अनु. 249 के अनुसार राज्यसभा को यह शक्ति दी गई है कि वह अपने कुछ सदस्यो के बहुमत और उपस्थित तथा वोट देने वाले सदस्यो के दो तिहाई बहुमत से एक प्रस्ताव पास करके यह घोषणा कर सकती है कि राज्य-सूची मे सम्मिलित किया गया अमुक विषय राष्ट्रीय महत्व का है और इसलिए संसद को उस विषय के बारे मे एक वर्ष के लिए सारे भारत या उसके किसी भाग के लिए कानून बनाने का अधिकार मिल जाता है।

अनु. 322 के द्वारा राज्यसभा को यह अनन्य शक्ति प्रदान की गई है कि वह किसी भी अखिल भारतीय सेवा की स्थापना के लिए प्रस्ताव पास कर सकती है। संसद कानून द्वारा ऐसी लोक-सेवा की स्थापना करेगी। इन दोनों अधिकारो के सिलसिले में राज्यसभा को पूर्ण अधिकार प्राप्त है। राज्यसभा द्वारा प्रस्ताव पारित करने के बाद ही लोकसभा उनके सम्बन्ध मे कोई कार्यवाही कर सकती है।

इस प्रकार राज्यसभा केवल एक शोभा की वस्तु या अनावश्यक नही है। यह लोकसभा की हां में हां मिलाने के लिए ही नही बनाई गई है। वित्तीय मामलो को छोड़कर, दोनों सदनों को सह-समान तथा समन्वयकारी अस्तित्व प्रदान किया गया है। अधिकांश देशों में प्रथम तथा द्वितीय सदनों के बीच ऐसा ही सबध है। स्विट्जरलैण्ड मे दोनों सदनों की समान स्थिति है, लेकिन प्रथम सदन अधिक प्रभावशाली हो गया है। सोवियत रूस में दोनों सदन व्यवहारतः भी समान है। प्रचलित सवैधानिक परम्पराओं के प्रतिकूल अमेरिका में सीनेट को प्रथम सदन से उच्च स्थान प्राप्त है।

व्यवस्थापिका का सफल कार्यकरण दोनो सदनो के सहयोग पर निर्भर करता है। लेकिन द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका मे दोनो सदनो के बीच सघर्ष की स्थिति उत्पन्न होने की संभावना बराबर बनी रहती है। मोरिस जोन्स ने भी लिखा है कि 'संस्थाओ का यह स्वभाव होता है कि वे निष्ठाओ को जन्म देती है और जब दो संस्थाओ की स्थिति प्रायः समान होती है उनमे मतभेदो का उत्पन्न हो जाना सर्वथा स्वाभाविक है।"

यद्यपि दोनों के संगठन तथा शक्ति मे बहुत कुछ समानता है, फिर भी राज्यसभा प्रारम्भ से ही अपनी हीन स्थिति के प्रति सजग है। प्रथम बार 1953 मे दोनो सदनो में सघर्ष हुआ। आयकर (संशोधन) अधिनियम 1952 के प्रसग मे राज्य-सभा ने अपने सदस्य विधि मत्री श्री विश्वास को आदेश दिया कि वे लोकसभा के समक्ष उपस्थित न हों। लेकिन लोकसभा के सदस्यों ने तर्क दिया कि चूकि मन्त्रिगण लोकसभा के प्रति उत्तरदायी हैं, इस लिए इन्हें उसके समक्ष उपस्थित होना लोकसभा के अधिकार-क्षेत्र मे आता है। सघर्ष बढ़ने के पहले ही प्रधानमन्त्री के हस्तक्षेप के कारण दब गया। 1953 में ही दूसरी घटना लोक-लेखा-समिति के संगठन के बारे मे घटी। राज्य-सभा ने सुझाव दिया कि इसकी अपनी लोक-लेखा-समिति हो या

सदस्यों को सम्मिलित कर लोकसभा की लोक-लेखा-समिति को ही दोनों सदनों की एक संयुक्त समिति में परिवर्तित कर दिया जाये। लोकसभा के सदस्यों ने इस सुझाव का विरोध किया तथा इसे असंवैधानिक बताया। लेकिन प्रधान-मन्त्री ने राज्य-सभा के सुझाव को संशोधित रूप में स्वीकार कर लिया तथा राज्य सभा द्वारा नामांकित सदस्यों को इस समिति में स्थान देने का आश्वासन दिया। प्रधान मन्त्री के प्रस्ताव का भी लोकसभा में भारी विरोध किया गया लेकिन इस आश्वासन पर कि राज्य-सभा के सदस्य समिति के सदस्य नहीं होंगे, बल्कि उसे सिर्फ सहयोग देंगे, लोकसभा ने अनिच्छा से सहमति दी। चटर्जी काण्ड के सम्बन्ध में दोनों में और भी उग्र संघर्ष हुआ। श्री एन. सी. चटर्जी ने, जो लोकसभा के सदस्य थे, राज्य-सभा को एक सार्वजनिक सभा में अनुत्तरदायी बताया। राज्य-सभा ने श्री चटर्जी के कथन पर आपत्ति प्रकट की और उनसे इस सम्बन्ध में पूछताछ की गई। लोकसभा ने इसे अपने सदस्यों के विशेषाधिकार का अतिक्रमण समझा। अन्त में यह निर्णय हुआ कि ऐसे विवादों का निपटारा दोनों सदनों की एक संयुक्त समिति द्वारा हो।

इस संघर्ष की समाप्ति के लिए दोनों में सहयोग की भावना का होना नितान्त आवश्यक है। साथ ही संविधानतः दोनों सदनों के अधिकार-क्षेत्र तथा पारस्परिक सम्बन्ध का स्पष्ट उल्लेख होना चाहिए। क्योंकि "यह निश्चित है कि यदि दोनों सदन एक से ही कार्य करना चाहते हैं तो शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व कठिन है। यदि उनके कार्यों को निश्चित नहीं किया जाता तो उनकी प्रतिद्वंद्विता और बढ़ेगी।"

प्रश्न 21—भारतीय मन्त्रिमण्डल के गठन, अधिकार एवं कर्त्तव्यों पर प्रकाश डालिये।

अथवा

संविधान ने मन्त्रिपरिषद् के सम्बन्ध मे कुछ साधारण उपबन्धों का ही उल्लेख किया है जो केवल उसके निर्माण तथा मन्त्रियों से सम्बन्धित बातों पर प्रकाश डालते है। इसका प्रमुख कारण है कि संसदीय शासन-व्यवस्था मे रीति-रिवाजों और परम्पराओ का विशेष महत्त्व होता है।

मंत्रिपरिषद् का गठन—संविधान के अनु. 75 के अनुसार प्रधानमंत्री की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा होगी तथा अन्य मंत्रियों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा प्रधानमंत्री के परामर्श से की जाएगी। संविधानतः राष्ट्रपति प्रधानमंत्री की नियुक्ति करता है लेकिन व्यवहार में राष्ट्रपति प्रधानमंत्री की नियुक्ति करता है लेकिन व्यवहार मे राष्ट्रपति संसद मे बहुमत दल के नेता को ही प्रधानमंत्री पद के लिए नियुक्त करता है। अन्य मंत्रियो की नियुक्ति के संबंध में संवैधानिक स्थिति यह है राष्ट्रपति प्रधान-मंत्री की राय से अन्य मंत्रियो की नियुक्ति करेगा लेकिन व्यवहारतः राष्ट्रपति का परामर्श मानने के लिए बाध्य है। मंत्रि-परिषद् का सदस्य होने के लिए प्रत्येक मंत्री को संसद का सदस्य होना आवश्यक है। यदि नियुक्ति के समय वह संसद का सदस्य नही है तो नियुक्ति होने के 6 माह के अन्दर ही उसके लिए संसद के किसी भी सदन का सदस्य बनना अनिवार्य है।

संविधान ने मंत्रियो की संख्या निश्चित नही की है। यह प्रधानमंत्री की इच्छा पर निर्भर है। मंत्रियों की नियुक्ति करने के उपरांत प्रधानमंत्री उनमे विभिन्न विभागों का विभाजन करता है। विभागों के विभाजन का कार्य राष्ट्रपति का नही, प्रधानमंत्री का होता है। प्रधानमंत्री को छोड़कर अन्य सभी मंत्री निश्चित विभागों के अध्यक्ष होते हैं। उन्हें विभाग के नाम से ही पुकारा जाता है।

मंत्रियों का वेतन तथा भत्ता एवं कार्यकाल—मंत्रियो के वेतन तथा भत्ते को निश्चित करने का अधिकार संविधान ने भारतीय संसद को दिया है। जब-तक भारतीय संसद किसी विधि द्वारा इनका निर्णय नही करती है उस समय तक मंत्रियो को 300 रु० मासिक वेतन तथा 500 रु० मासिक भत्ता मिलता रहेगा। 2250 रु० मासिक राज्य-मंत्रियो को 500 रु० भत्ता तथा 1750 रु० मासिक उप-मंत्रियों को प्राप्त होगा। उनको निवास के लिए एक बिना किराए का मकान भी होगा।

मंत्रि-परिषद् का कार्यकाल 5 वर्ष का होता है किन्तु लोकसभा का विश्वास भंग होने पर उसे इस अवधि से पूर्व भी पदत्याग करना पड़ता है।

मंत्रि-परिषद् के कार्य—संविधान के द्वारा भारतीय मंत्रि-परिषद् का कार्य राष्ट्रपति को उसके कार्यों में सहायता तथा परामर्श देना है किन्तु संविधान मे ऐसा कहीं भी लिखा हुआ नही है कि राष्ट्रपति इस परामर्श को कहाँ तक माने। किन्तु वास्तविकता यह है कि शासन का समस्त कार्य मंत्रि-परिषद् करेगी और राष्ट्रपति उसको परामर्श देगा, क्योंकि संघ की वास्तविक कार्य-पालिका मंत्रि-परिषद् ही है।

भारत की मंत्रि-परिषद् के निम्नलिखित कार्य हैं—

1. नीति-निर्धारण सबंधी कार्य—मंत्रि-परिषद् राष्ट्र की नीति का निर्धारण करती है। आन्तरिक एवं वाह्य क्षेत्र मे किस की नीति का अवलंबन किया जाएगा इसका निश्चय मंत्रि-परिषद् ही करती है। दूसरे देशों से व्यावहारिक तथा राजनीतिक संधि स्थापित करना तथा युद्ध मे सुलह करना मंत्रि-परिषद् का कार्य है। मंत्रि-परिषद् सरकारी योजना तैयार करती है।

2. विधि-निर्माण सबधी कार्य—विधि-निर्माण संबंधी कार्यक्रम को निश्चित करना मंत्रि-परिषद् का कार्य है। कौन से बिल संसद मे पेश किए जाय, इसका निश्चय मंत्रि-परिषद् ही करती है। मुख्य सरकारी बिल मन्त्रियो द्वारा ही ससद मे पेश किए जाते है।

3. शासन का उत्तरदायित्व—मन्त्रि-परिषद् समस्त-शासन के कार्यों के लिए उत्तरदायी है। वह इसके लिए ससद के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी है। ससद की बैठको में मन्त्रि-परिषद् ही कार्य-कारिणी का प्रतिनिधित्व करता है।

4. वित्तीय कार्य—वित्तीय-नीतिका निश्चय मन्त्रि-परिषद् करती है। मन्त्रि-परिषद् मिलकर सरकार का वार्षिक बजट तैयार करती है। सम्पूर्ण विधेयको को ससद में मन्त्रि-परिषद् ही प्रस्ताव करती है।

5 विधायिनी कार्य—ससद मे समस्त विधायिनी कार्य मन्त्रि-परिषद् द्वारा सपन्न किए जाते है। समस्त महत्वपूर्ण तथा सरकारी विधेयक व गैर सरकारी विधेयक भी प्रस्तावित किये जाते हैं।

6. नियुक्ति सबधी कार्य—सविधान के द्वारा राष्ट्रपति को जिन पदाधिकारियो को नियुक्त करने की शक्ति प्रदान की गई है, व्यवहार मे इन पदाधिकारियों की नियुक्ति मन्त्रि-परिषद् के द्वारा ही की जाती है। मन्त्रि परिषद् के परामर्श से ही ससद के दोनो सदनो के परिषद् के परामर्श से ही ससद के दोनो सदनो के मनोनीत सदस्य नियुक्त किए जाते हैं। राज्यो के राज्यपाल, उच्चतम न्यायालयके न्यायधीश, महाधिवक्ता, महालेखापाल और सेना के सेनापतियो की नियुक्ति मन्त्रि-परिषद् के परामरामर्श से की जाती है।

वास्तव मे मंत्रि-परिषद् उन समस्त कार्यों को कराती है जिनके करने का अधिकार संविधान ने राष्ट्रपति को दिया है। यह बहुत शक्तिशाली है और देश की समस्त राजनीतिक व्यवस्था पर उसका अधिकार है। इसीलिए मेरियट ने कहा है कि "वह ऐसा विन्दु है जिसके चारो ओर राजनीतिक मशीन घूमती है।" रेम्जे-म्योर ने उसे "राज्य रूपी जहाज को चलाने वाला पहिया कहा है।"

प्रश्न 22—सर्वोच्च न्यायालय के गठन का वर्णन कीजिए तथा सविधान की सुरक्षा एव मूल अधिकारों के सरक्षण को ध्यान में रखते हुए उसके कार्यों की विवेचना कीजिए।

अथवा

सर्वोच्च न्यायालय को न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति कहां तक प्राप्त है?

उत्तर—सर्वोच्च न्यायालय की आवश्यकता—संघीय शासन-व्यवस्था में स्वतन्त्र और उच्चतम न्यायालय अत्यन्त अनिवार्य होता है। संघ-राज्य में संघीय एवं राज्य सरकारों के बीच स्पष्ट एवं लिखित रूप में शक्ति विभाजन किया जाता है किन्तु फिर भी अनेक विषयों पर संघीय और राज्य सरकारों के बीच या राज्य-सरकारों में ही परस्पर विवाद उत्पन्न हो सकता है, जिनका निवटारा एक सर्वोच्च न्यायालय के द्वारा ही किया जा सकता है। चूंकि संघ एवं इकाई की सरकारों के क्षेत्राधिकार-सविधान मे सुनिश्चित कर दिये जाते हैं किन्तु संविधान की भाषा प्राय: अस्पष्ट रहती है, जिसके फलस्वरूप क्षेत्राधिकार के सम्बन्ध मे केन्द्रीय एव राज्य-सरकारो के बीच विवाद पैदा हो सकता है। चूंकि सविधान देश की सर्वोच्च विधि है, इसलिए ऐसे विवादों का निर्णय संविधान के उपबन्धों के अनुसार ही होगा। अतः यह आवश्यकता है कि इस प्रकार के किसी भी विवाद का निर्णय एक निष्पक्ष तथा स्वतन्त्र मध्यस्थ निकाय द्वारा हो। एक सघीय सविधान में सर्वोच्च न्यायालय इस उत्तरदायित्व को निभा सकता है। अतः इस दृष्टिकोण से संघ-राज्य में एक सर्वोच्च न्यायालय की व्यवस्था अत्यन्त आवश्यक है।

सर्वोच्च न्यायालय का संगठन—संविधान की धारा 124 मे सर्वोच्च न्यायालय के संगठन का वर्णन किया गया है। संविधान में यह स्पष्ट रूप से लिखित है कि सर्वोच्च न्यायालय में एक मुख्य न्यायाधीश और सात अन्य न्यायाधीश होंगे। 1960 मे किये गये संशोधन के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय में मुख्य न्यायाधीश सहित 14 न्यायाधीश है। सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति भारत का राष्ट्रपति करता है। सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है तथा अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति वह मुख्य न्यायाधीश के परामर्श से करता है। विशेष अवस्था उत्पन्न होने पर भारत का मुख्य न्यायाधीश भारत के राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त कर तदर्थ न्यायाधीशों की नियुक्ति कर सकता है।

योग्यताएं—सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों में निम्नलिखित योग्यताओं का होना आवश्यक है—

1. वह भारत का नागरिक हो।

2. वह किसी उच्च न्यायालय अथवा ऐसे दो या दो से अधिक न्यायालयों मे लगातार कम से कम 5 वर्ष तक न्यायाधीश के पद पर कार्य कर चुका हो।

3. किसी उच्च न्यायालय अथवा न्यायालयो में लगातार दस वर्ष तक अधिवक्ता (Advocate) रह चुका हो।

4. या राष्ट्रपति की राय में पारंगत विधिवेत्ता हो।

वेतन और भत्ते—सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश का वेतन 500 रुपये मासिक और अन्य न्यायाधीशों का वेतन 4000 रुपये मासिक होगा। उनको बिना किराए का निवास-स्थान और अनेक प्रकार के भत्ते आदि दिये जाएंगे।

उनकी नियुक्ति के बाद उनके वेतन, भत्ते आदि में कोई अलाभकारी परिवर्तन नहीं किया जाएगा।

कार्य-काल तथा पदच्युति—सामान्यतया सर्वोच्च न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश 65 वर्ष तक की आयु तक अपने पद पर आसीन रह सकता है। इस अवस्था से पूर्व वह स्वयं त्यागपत्र दे सकता है। सिद्ध कदाचार अथवा असमर्थता के कारण संसद के द्वारा न्यायाधीश को उनके पद से हटाया जा सकता है। यदि संसद के दोनों सदन अलग-अलग अपनी कुल सदस्यों की संख्या के बहुमत तथा दोनों सदनों की बैठकों में उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों के दो तिहाई मत से उसको अयोग्य तथा आपत्तिजनक आचरण करने वाला प्रमाणित कर देते हैं, तो भारत के राष्ट्रपति को उस न्यायाधीश को उसके पद से हटाना होगा। न्यायाधीश को हटाने वाला प्रस्ताव संसद के एक ही सत्र में स्वीकृत होना चाहिये। न्यायाधीश को अपने पद का समर्थन तथा उसकी पैरवी का पूरा अवसर प्रदान किया जायेगा।

सर्वोच्च न्यायालय का क्षेत्राधिकार

भारत के सर्वोच्च न्यायालय को काफी विस्तृत क्षेत्राधिकार प्राप्त हैं। यहाँ तक कि विश्व के अन्य किसी भी न्यायालय का क्षेत्राधिकार शायद ही इतना व्यापक हो।

1 **प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार**—निम्नलिखित तीन प्रकार के मामले सर्वोच्च न्यायालय में प्रारम्भ होंगे—

(1) भारत सरकार तथा एक या अधिक राज्यों के बीच।

(2) अथवा एक और भारत सरकार और कोई राज्य या राज्यों तथा दूसरी ओर एक या अधिक राज्यों के बीच।

(3) दो या अधिक राज्यों के बीच कोई विवाद हो जाय। किन्तु विवाद ऐसा होना चाहिए जिससे कानून के तथ्य का ऐसा प्रश्न हो जिस पर कोई कानूनी अधिकार निर्भर हो, यानी विवाद संवैधानिक हो।

2. **अपीलीय क्षेत्राधिकार**—इसमे में निम्न चार तरह के मामले माने गए हैं—

(1) ऐसे मामले जिनमे हाईकोर्ट प्रमाणित करे कि विवाद संविधान की व्याख्या का है।

(2) हाईकोर्ट प्रमाणित करे तो भी संवैधानिक व्याख्या की आवश्यकता समझ कर सर्वोच्च न्यायालय अपील की आज्ञा दे दे।

(3) एक दीवानी का मुकदमा जिसमे पच्चीस हज़ार की जायदाद पर विवाद हो, या हाईकोर्ट प्रमाणित करे कि यह मामला सर्वोच्च न्यायालय के सामने जाने योग्य है।

(4) फौजदारी मामलो की अपील हाईकोर्ट के बाद सर्वोच्च न्यायालय के सामने की जा सकती है, यदि मामला ऐसा हो जिसमे हाईकोर्ट के नीचे की अदालत

को रद्द करके अभियुक्त को फांसी की सजा दी हो या हाईकोर्ट यह प्रमाण-पत्र दे कि मामला सर्वोच्च न्यायलय के सामने जाने योग्य है।

3. परामर्शीय क्षेत्राधिकार—सर्वोच्च न्यायालय ऐसी अवस्था में, जब राष्ट्रपति को प्रतीत हो कि विधि या तथ्य का कोई ऐसा प्रश्न पैदा हुआ है, जो सार्वजनिक महत्व का है, तो उसे परामर्श दे सकता है। न्यायालय के परामर्श को स्वीकार या अस्वीकार करना राष्ट्रपति के विवेक पर निर्भर होगा। अभी तक राष्ट्रपति ने सर्वोच्च न्यायालय से तीन बार परामर्श मांगा है।

सर्वोच्च न्यायालय की शक्तियां

1. संसद कानून बनाकर हाईकोर्ट के फौजदारी के किन्ही भी मामलों में किए गए निर्णयो के विरुद्ध अपीलें सुनने की शक्ति सर्वोच्च न्यायालय को दे सकता है। इसी प्रकार संघ-सूची में प्रकाशित किन्हीं भी विषयो पर मुकदमा चलने पर उनकी सुनवाई की शक्ति उन्हे दे सकता है।

(2) सर्वोच्च न्याय को यह शक्ति प्राप्त है कि हाईकोर्ट से आने वाले किसी भी फौजदारी के मामले के लिए अपील सुने।

(3) सर्वोच्च न्यायलय को यह शक्ति प्राप्त है कि वह अपनी इच्छानुसार किसी भी न्यायालय के विरुद्ध अपील सुने।

(4) सर्वोच्च न्यायालय का निर्णय भारतीय मामलों में अन्तिम निर्णय होगा। भारत के सभी न्यायालयों को इसके निर्णय को मानना पड़ेगा।

(5) उसे एक सामूहिक रूप से कुछ ऐसे अधिकार प्राप्त हैं जो अन्य, किसी प्रकार से नष्ट नही किए जा सकते। सर्वोच्च न्यायालय का निर्णय, संविधान की व्याख्या के सम्बन्ध में मुकदमें के निर्णय के सम्बन्ध मे अन्य किसी अपील योग्य मामले के सम्बन्ध में, अन्तिम होना।

न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति—सर्वोच्च न्यायालय संविधान के संरक्षण का कार्य भी करता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि सर्वोच्च न्यायालय को संसद द्वारा पारित किए गए कानूनों की वैधानिकता की जांच करने की शक्ति प्राप्त है।

अतः यदि संसद अथवा राज्यों की विधान-सभाएं किसी ऐसे कानून का निर्माण कर दे जो संविधान की धाराओ के प्रतिकूल हो, अथवा नागरिकों के मौलिक अधिकारों का हनन करता हो तो सर्वोच्च न्यायालय ऐसे कानून को अवैध घोषित कर सकता है। इसी शक्ति को 'न्यायिक पुनरावलोकन (Judicial Review) की शक्ति कहा जाता है। सर्वोच्च न्यायालय ने संसद द्वारा पारित कानून बैंकों के राष्ट्रीयकरण तथा प्रिविपर्स समाप्ति सम्बन्धी राष्ट्रपति के अध्यादेश को अवैध घोषित कर दिया था।

प्रश्न 23—सर्वोच्च न्यायालय द्वारा अब तक दिये गये महत्वपूर्ण निर्णयों के आधार पर उसकी शक्ति-परीक्षण कीजिए।

अथवा

"पिछले कुछ वर्षों से यह देखा गया है कि संसद की अपेक्षा सर्वोच्च न्यायालय अधिक शक्तिशाली बनता जा रहा है।" यह उक्ति कहाँ तक सत्य है ?

अथवा

सर्वोच्च न्यायालय संसद के फैसलों को अवैध करार देकर कहाँ तक भारतीय संविधान की रक्षा की है ?

उत्तर—भूमिका—सर्वोच्च न्यायालय के 26 फरवरी 1967 के निर्णय से पुनः यह उभर कर सामने आया कि क्या संसद मूलाधिकारों पर केवल कुछ न्यायाधीशों का ही अधिपत्य माना जाए और संसद जो कि जनता का प्रतिनिधि सदन है कि इस सम्बन्ध में न्यायपालिका की ही कृपा पर निर्भर हो ?

संविधान में प्रावधान—इन प्रश्नों का उत्तर संविधान में ही खोजना चाहिए। अनुच्छेद 368 में कहा गया है कि संविधान के संशोधन का सूत्रपात उस प्रयोजन के लिए विधेयक को ससद के किसी सदन में पुनः स्थापित करके ही किया जा सकेगा तथा जब प्रत्येक सदन द्वारा उस सदन की समस्त सदस्य-संख्या के बहुमत से तथा उस सदन के उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों के दो तिहाई अन्यून बहुमत से वह विधेयक पारित हो जाता है तब वह, राष्ट्रपति के समक्ष उसकी अनुमति के लिए रखा जाएगा तथा विधेयक को ऐसी अनुमति दी जाने के पश्चात् विधेयक के निबन्धनों के अनुसार संविधान संशोधित हो जाएगा।

अनुच्छेद 13 (2) के अनुसार-राज्य कोई ऐसी विधि नहीं बनायेगा जो इस भाग (भाग 3) द्वारा दिये अधिकारों को छीनती या न्यून करती हो और इस खण्ड के उल्लंघन में बनी प्रत्येक विधि उल्लंघन की मात्रा तक शून्य होगी।

सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय—27 फरवरी 1967 को सर्वोच्च न्यायालय ने 6-5 के बहुमत से अपने पुराने निर्णयों को गलत बताते हुए यह घोषित किया कि अनु० 368 तो केवल संविधान में संशोधन करने की प्रक्रिया विहित करता है, यह स्पष्ट रूप में नहीं कहता कि संसद को संविधान में संशोधन करने का पूर्ण अधिकार है। सर्वोच्च-न्यायालय ने आगे कहा कि संविधान में संशोधन करने की प्रक्रिया अन्य विधि-निर्माण से भिन्न नहीं है। अर्थात् संवैधानिक विधि और साधारण विधि में कोई अन्तर नहीं है। यदि संशोधन भी साधारण विधि है तो यह अनु० 13 (2) के अन्तर्गत आ जाता है, जो कि राज्य को संविधान के भाग 3 द्वारा प्रदत्त मूल-अधिकार को छीनने या उनमें कमी करने को मना ही करता है। सन् 1962 और 1965 में दिये गये अपने निर्णयों में सर्वोच्च-न्यायालय ने संविधान के संशोधन को साधारण विधि से भिन्न माना था।

बहुमत दो निर्णयों द्वारा व्यक्त किया गया। एक मुख्य-न्यायाधीश के० सुब्बाराव तथा अन्य न्यायाधीशों के बदले में और दूसरा न्यायाधीश हिदायतउल्ला द्वारा।

सुब्बाराव का मत—भूतपूर्व-न्यायाधीश सुब्बाराव ने इस बात पर जोर दिया कि भारत मे संविधान-सर्वोच्च है और संविधान द्वारा निर्मित अन्य पदाधिकारियों को इस मौलिक कानून के उपबन्धों के अनुसार चलना होगा। बहुमत न्यायाधीशों द्वारा की गई संविधान की व्याख्या ने मौलिक अधिकारों को अनुल्लंघनीय (Transcandental) स्थिति प्रदान की है और उन्हें संसद की पहुँच से बाहर रखा है। न्यायाधीशों ने कहा कि "मौलिक स्वतन्त्रताओं की महत्ता इतनी अनुल्लंघनीय है कि दोनों सदनों के समस्त सदस्यों द्वारा सर्वसम्मति से पारित विधेयक भी उनके प्रयोग को निष्प्रभाव नहीं कर सकता है। न्यायाधीशों ने आगे कहा कि "स्वतंत्रता का दायरा मौलिक अधिकार अध्याय द्वारा घोषित संरक्षण पर निर्भर करता है न कि पार्लियामेंट द्वारा इस बात के निर्धारण पर कि सार्वजनिक हित के लिए क्या हितकारी है।"

अन्य मत—दूसरा कोई भी दृष्टिकोण अपनाने का परिणाम यह होगा कि संसद किसी भी क्षण समस्त मौलिक अधिकारों को समाप्त कर सकती है। सत्तारूढ़ दल इस कार्य को स्वयं अकेले या अन्य दलों के सहयोग से कर सकता है। ऐसी संभावना के परिणाम स्वरूप संविधान का सम्पूर्ण ढांचा जो उक्त आदर्शों पर आधारित है, एक गलत कदम से तहस-नहस हो सकता है।

पंजाब परिवार का आवेदन पत्र—सर्वोच्च-न्यायालय ने अपना विचार पंजाब के एक परिवार के आवेदन-पत्र पर विचार प्रकट करते हुए घोषित किया। यह आवेदन-पत्र भूमि-सुधार मुकद्दमे के विरुद्ध था।

न्यायालय के समक्ष यह प्रश्न विचाराधीन था कि क्या संसद-धारा 13 के संदर्भ में मौलिक अधिकारों को सीमित या समाप्त कर सकती है। इसके पूर्व भी दो अवसरों पर न्यायलय के समक्ष यह प्रश्न उठा था कि क्या संवैधानिक संशोधन एवं किसी साधारण विधेयक की स्थिति समान है? अर्थात् प्रश्न है कि संसद-साधारण विधि की प्रक्रिया से मौलिक अधिकारों मे परिवर्तन ला सकती है या नहीं? पहला अवसर 1951 मे शंकरी प्रसाद बनाम बिहारी राज्य के मुकद्दमे के अवसर पर आया था जो प्रथम संशोधन के विरुद्ध न्यायालय में अपील की गई थी। न्यायालय ने अपना विचार व्यक्त करते हुए कहा था कि संवैधानिक संशोधन-संसद द्वारा अपनी विधायिका शक्ति के अन्तर्गत बनाया गया 'कानून' नही है। बल्कि यह उसकी संवैधानिक शक्ति का परिणाम है। अतः उसने निर्णय दिया कि संवैधानिक संशोधन अनु० 13 (2) द्वारा लगाये गये प्रतिबन्ध के अन्तर्गत नहीं आते हैं और फलतः जब तक संशोधन की प्रक्रिया का अनुसरण किया जाता है तब तक वे वैध हैं। दूसरा अवसर 1965 में आया जबकि 17 संशोधन के विरुद्ध की गई अपील पर सर्वोच्च न्यायालय ने विचार किया। बहुमत न्यायाधीशों ने 1951 के निर्णय का समर्थन किया। केवल दो न्यायाधीशों, श्री हिदायतुल्ला और श्री मधोक ने विपक्ष में मत दिया।

सर्वोच्च न्यायालय के वर्तमान निर्णय ने प्रथम, चतुर्थ और सत्रहवें संशोधन को अवैध कर दिया होता, लेकिन मुख्य न्यायाधीश ने व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाया

भौर निर्णय को पूर्वव्यापी मान्यता (Doctrine of Retroactivity) देने से इन्कार कर दिया। ऐसा करते हुए उन्होंने अप्रत्याशित सिद्धांत (Doctrine of Prospective Overuling) का अनुकरण किया। पूर्वव्यापी मान्यता न देने के कारणों पर न्यायालय ने प्रकाश डाला। अभी तक 24 संवैधानिक संशोधन हो चुके हैं और उनके अनुसार विधान-सभाओं ने अनेक कानून भी बनाए हैं। पूर्वव्यापी मान्यता देने का अर्थ यह होता है कि अभी तक विधान-सभाओं ने अनेक अवैध कानून बनाए हैं और उन अवैध कानूनों को संशोधन द्वारा संरक्षण प्राप्त हुआ है। लेकिन न्यायालय ने 1951 में स्वतः यह निर्णय लिया था कि संसद को संवैधानिक अधिकार प्राप्त हैं। इसी आधार पर संविधान में प्रथम, चतुर्थ और सत्रहवें संशोधन लाए गए। अतः इन संशोधनों के अन्तर्गत निर्मित सभी कानून वैध माने जाने चाहिए। 1950 से 1967 के बीच में कृषि सम्बन्धी क्रांति लाने के लिए अनेक कानून बनाए गए, जैसे जमींदारी, इनाम तथा अन्य मध्यवर्ती जागीरें समाप्त कर दी गई। इस प्रकार अनेक क्रांतिकारी कानूनों का निर्माण किया गया। ये सभी कानून न्यायालय के निर्णय के अन्तर्गत पारित किए गए। अतः पूर्वव्यापी प्रभाव के सिद्धांत को अपनाकर इन्हें गलत बता देना न्याय-संगत नहीं होता। यदि इस सिद्धांत को मान्यता दे दी जाए तो पहले के सभी कानून अवैधानिक हो जाएंगे तथा देश में अव्यवस्था और अराजकता फैल जाएगी। अतः यह आवश्यक था कि न्यायालय अपने निर्णय को पूर्वव्यापी मान्यता न दे।

इस प्रकार उपर्युक्त निर्णय के अनुसार संसद की संशोधन शक्ति का आधार अनु. 245, 246 और 248 है न कि केवल अनु. 368 है जो कि संशोधन प्रक्रिया की चर्चा करता है। संशोधन अनु. 23 के अन्तर्गत एक 'कानून' है और यदि यह मौलिक अधिकारों को छीनता है तो अवैध होगा। न्यायालय ने कहा, "हम लोग घोषित करते है कि इस निर्णय के बाद संसद को संविधान के भाग 3 के किसी उपबंध में इस तरह से संशोधन करने का अधिकार प्राप्त न होगा जिससे कि मौलिक अधिकार छिन जाएं या सीमित हो जायं।"

सर्वोच्च न्या० के निर्णय संसद के विरुद्ध—सर्वोच्च न्यायालय के इस निर्णय ने संसद की सर्वोपरि सत्ता को गहरा धक्का पहुंचाया। उसका अधिकार क्षेत्र तथा सार्वभौमिकता सीमित हो गयी है। साथ ही इसके द्वारा समाजवादी व्यवस्था की स्थापना में कठिनाई होगी क्योंकि विधानसभाएं सार्वजनिक हित के दृष्टिकोण से सम्पत्ति के अधिकार को सीमित नहीं कर सकती हैं। किन्तु न्यायपालिका के समर्थकों के अनुसार इससे इसने मौलिक अधिकारों को अनुभवातीत स्थिति प्रदान कर नागरिक स्वतन्त्रता को विशेष सुरक्षित बना दिया है। के० संथानम ने कहा है, "यह भी तर्क दिया जाता है कि प्रभुत्वपूर्ण संसद के संविधान में संशोधन के अधिकार को सर्वोच्च न्यायालय द्वारा नहीं छीना जाना चाहिए। यह तर्क गलत है क्योंकि भारत में संसद सर्वोपरि नहीं है। संविधान तथा सर्वोच्च न्यायालय द्वारा इसकी शक्तियां सीमित

हैं ।" साथ ही जब न्यायालय को ही उसकी व्याख्या व रक्षा का अधिकार है तो धारा 13 के अन्तर्गत 'कानून' की वह 'संवैधानिक कानून' के रूप में भी व्याख्या करता है तो उसे मानना चाहिए। इसके पक्ष में एक तर्क यह भी दिया जा सकता है कि संसद की अपेक्षा न्यायालय में जनता का अधिक विश्वास होता है तथा इसकी निष्पक्षता में संदेह नहीं किया जाता। अतः अल्पमत अपने आपको न्यायालय के हाथों में अधिक सुरक्षित अनुभव करता है।

किन्तु वास्तव में देखा जाए तो यह निर्णय संविधान को इतना दुस्संशोध्य बना देगा कि जन-इच्छा द्वारा कोई भी सुगम परिवर्तन न किया जा सकेगा और यह प्रगतिशील विधायन के मार्ग में बाधक सिद्ध होगा। इसके अतिरिक्त धारा 368 में कहा गया है कि एक विशेष प्रक्रिया द्वारा संसद को संविधान मे संशोधन का अधिकार होगा। इसके अतिरिक्त अन्य कोई प्रावधान भारतीय संविधान मे नही है कि संविधान का संशोधन संसद के अतिरिक्त कौन करेगा। अतः यह कहना कि संसद को संशोधन का अधिकार नही है प्रजातन्त्र की अवज्ञा तो है ही इसके बिना धारा 368 का भी कोई महत्व नहीं रह जाएगा। संविधान निर्मात्री सभा यदि संसद को यह अधिकार नही देना चाहती तो वह इसका स्पष्ट उल्लेख कर सकती थी।

संसद के समर्थकों ने सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय को और भी कई कारणो से अनुचित ठहराया है—

(1) राजनीतिक दृष्टि से कोई भी ऐसा पग जो कि संसद की प्रभुता को कम करने वाला हो, स्वीकार नहीं किया जा सकता। संसद जनता की इच्छाओं का प्रतिनिधित्व करती है। संविधान और कानूनों को सामाजिक परिवर्तनों और समुदाय की परिवर्तनशील आवश्यकताओं के अनुसार बदलना चाहिए। व्यक्ति के मूल अधिकार उसी सीमा तक मूल है जब तक कि वे सामान्य हित के अनुकूल रहे।

(2) सम्पत्ति के अधिकार पर नियन्त्रण 'अधिनायकवादी शासन' का द्योतक नही है वरन् इसका एकमात्र उद्देश्य न्यायपूर्ण समाजवादी समाज की स्थापना है।

(3) उपर्युक्त निर्णय इस गलत धारणा पर आधारित है कि मौलिक अधिकारो व राज्य के नीति निर्देशक तत्वो मे किसी प्रकार का विरोध पैदा होना असभव है। लेकिन वस्तुस्थिति यह है कि संविधान के इन दोनो भागो में विवाद पैदा होने के कारण ही पहला, चौथा और सातवा संशोधन लाया गया।

(4) स्वयं संविधान मे यह व्यवस्था है कि कुछ मूल अधिकारों को विशिष्ट परिस्थितियों मे निलम्बित किया जा सकता है। इस व्यवस्था के परिणामस्वरूप यह स्वीकार नही किया जा सकता कि मूल अधिकार अनुभवातीत हैं या अपरिवर्तनशील है।

(5) साथ ही यह सुझाव देना कि जब कभी मूल अधिकारों में संशोधन करना आवश्यक हो संविधान-सभा को आहूत किया जाए, व्यावहारिक नहीं है। यह

उल्लेखनीय है कि यदि कभी इस विधि को अपनाया भी जाय तो हो सकता है कि इस प्रकार से बनाए गए कानून को इस आधार पर अवैध घोषित कर दिया जाए कि कोई निकाय (संसद) किसी ऐसे दूसरे निकाय (संविधान-सभा) की रचना नहीं कर सकता जिसकी शक्तियाँ रचना करने वाले निकाय से अधिक हों। यदि संसद को कुछ बातों में संविधान का संशोधन करने की शक्ति प्राप्त नहीं है, तो वह किसी ऐसे दूसरे निकाय की कैसे रचना कर सकती है जिसे उन बातों के बारे में संविधान में संशोधन करने की शक्ति दी जावे। यदि संविधान निर्माता ऐसा विचार रखते तो वे संविधान में ही इस प्रकार की व्यवस्था कर देते। इस प्रकार मूल अधिकारों में संशोधन करने की कोई विधि न रह जाती।

(6) इसके अलावा साधारण कानून तथा संवैधानिक कानून में अन्तर है। प्रायः सभी राज्यों के संविधानों में संविधान से सम्बन्धित कानून व संशोधन पास करने के लिए विशेष बहुमत या प्रक्रिया की व्यवस्था होती है। (सिवाय ब्रिटेन को छोड़ कर जहाँ कि संविधान अधिकांशतः अलिखित हैं।) स्वयं सर्वोच्च न्यायालय के पूर्वगामी निर्णयों में इस अंतर को स्वीकार किया गया है। सं० रा० अ० के संविधान में मूल अधिकारों की व्यवस्था ही संविधान के प्रथम दस संशोधनों द्वारा हुई है। वहाँ की कांग्रेस उनमें आवश्यकतानुसार संशोधन भी कर सकती है, अन्य राज्यों में भी लगभग ऐसी ही व्यवस्था है।

(7) अन्त में, किसी भी सार्व-भौम राज्य में संविधान निर्माताओं की इच्छा से उनके उत्तराधिकारी सदा के लिए बंधे नहीं रह सकते हैं। निस्सन्देह संविधान को स्थाई तथा अपरिवर्तनशील होना चाहिए। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि भविष्य की जनता तथा शासकों को उसमें परिवर्तन करने का अधिकार ही न हो। यह कानूनतः अथवा व्यवहारतः गलत होगा। इससे संविधान का स्वाभाविक विकास रुक जाएगा। फलतः सामाजिक प्रगति के लिए एक ही विकल्प रह जाता है, वह है वर्तमान व्यवस्था को हिंसा द्वारा उखाड़ फेंकना। सार रूप में सन् 1966 में सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष दिए गए कन्हैयालाल मिश्रा के तर्क उल्लेखनीय हैं—

"अनुच्छेद 368 में दी गई शक्ति का स्वरूप प्रभुत्व जैसा है, अतः उस पर कोई निहित सीमाएँ नहीं लगाई जा सकती। संशोधन कानून से भिन्न है। मेरा कहना यह है कि संविधान का निर्वचन इस प्रकार से नहीं करना चाहिए कि उसका एकमात्र विकल्प क्रांति रह जाए। ऐसी स्थिति पैदा न की जाए कि देश की प्रगति रुक जाए और प्रगति में बाधा ही क्रांति की प्रेरक बन जाये। जो बात आज मूल-भूत है वह कल अथवा दस वर्ष बाद मूल-भूत न रहे, ऐसा संभव है, तो कठिनाईयाँ उत्पन्न हो सकती हैं। यदि जनता की आवश्यकता सच्ची है, तो क्या न्यायाधीशों को संविधान का निर्वचन इस प्रकार से नहीं करना चाहिए कि वह प्रयोजन पूरा हो ?

निष्कर्ष रूप में संसद का पक्ष प्रबल है और यह आवश्यक है कि मूलाधिकारों की व्यवस्था कुछ गिने चुने न्यायाधीशों पर न छोड़ी जाए।

प्रश्न 24—राज्यों के प्रशासन में राज्यपाल की क्या स्थिति है ? राज्य की विधान-सभा व मंत्रिपरिषद् के साथ इसके क्या सम्बन्ध हैं ?

अथवा

राज्यपाल केन्द्र एवं राज्य के बीच एक कड़ी है जो दोनों के बीच संतुलन बनाये रखता है।

अथवा

राज्यपाल की नियुक्ति एवं शक्तियों का वर्तमान संदर्भ में उदाहरण सहित विवेचन कीजिये।

उत्तर—भूमिका—संविधान के अनुसार राज्यों की समस्त कार्यपालिका शक्ति तथा अधिकार राज्यपाल में निहित हैं। राज्य का समस्त कार्य उसके नाम से होता है। वह लोकप्रिय तथा उत्तरदायी मंत्रिपरिषद् की सहायता से शासन करता है। वास्तव में राज्यपाल, राज्य की कार्य-पालिका का औपचारिक प्रधान होता है, जबकि मंत्रि-परिषद् राज्य की कार्य-पालिका सत्ता की वास्तविक प्रधान होती है। *राज्य में राज्यपाल की स्थिति लगभग उसी प्रकार की होती है जिस प्रकार कि संघ में राष्ट्रपति की।* राज्यपाल वह कड़ी भी है जो केन्द्र और राज्य के शासन को जोड़ती है।

राज्यपाल की नियुक्ति एवं कार्यकाल—राज्यपाल की नियुक्ति केन्द्रीय मंत्रि-परिषद् के परामर्श से राष्ट्रपति करता है। वह राष्ट्रपति के प्रति उत्तरदायी रहकर कार्य करता है अर्थात् वह राष्ट्रपति के प्रसाद पर्यन्त ही पद धारण करता है। संविधान के अनुसार उसकी नियुक्ति पद ग्रहण करने की तिथि से पाँच वर्ष की अवधि के लिए की जाती है। लेकिन वह अपने उत्तराधिकारी के पद ग्रहण करने तक अपने पद पर बना रह सकता है। राज्यपाल के द्वारा इस अवधि से पूर्व भी त्यागपत्र दिया जा सकता है। संविधान के अनुसार एक ही व्यक्ति को दो या दो से अधिक राज्यों का राज्यपाल नियुक्त किया जा सकता है।

योग्यताएं—राज्यपाल होने वाले व्यक्ति में निम्नलिखित योग्यताएं होनी आवश्यक है—

1. वह भारत का नागरिक हो।
2. उसकी आयु 35 वर्ष से अधिक हो।
3. जो संघीय सदस्य और किसी राज्य के विधान-मण्डल का सदस्य न हो। यदि कोई ऐसा व्यक्ति राज्यपाल के पद पर नियुक्त हो जाता है जो विधान-मण्डल या संसद का सदस्य है तो उसे अपनी नियुक्ति की तिथि से इसका त्याग करना होगा।
4. वह लाभ के किसी अन्य पद को ग्रहण नहीं करेगा।

राज्यपाल का वेतन, भत्ते एवं उन्मुक्तियाँ—जब तक संसद के द्वारा राज्यपाल के वेतन के सम्बन्ध में कुछ निश्चित नहीं किया जाता उसे 5500) रु

तथा ऐसे भत्ते दिए जायेंगे जो भारत के भूतपूर्व गवर्नरों को इस संविधान से ठीक पहले दिए जाते थे। उसकी पदावधि में उसकी उपलब्धियाँ तथा भत्ते हटाए नहीं जा सकते। उसे बिना किराए का सरकारी निवास, सवारी, सामान, मनोरंजन, सजावट तथा कर्मचारी प्राप्त हैं।

संविधान के अनु० 361 के अनुसार राज्यपाल अपने पद के निर्वहन में जो काम करता है अथवा अपने अधिकारों एवं कर्त्तव्यों के निर्वहन में जो कार्य करता है, उसकी पदावधि के अन्तर उसके विरुद्ध किसी भी न्यायालय में फौजदारी कानून के अनुसार कार्यवाही नहीं की जा सकती।

राज्यपाल की शक्तियाँ

1. कार्य-पालिका-शक्तियाँ—राज्यपाल ही कार्य-पालिका का अध्यक्ष है। सम्पूर्ण कार्य-पालिका शक्ति उसमें निहित है जिसका भोग वह स्वयं या अपने अधीन पदाधिकारियों द्वारा कर सकता है। संविधान द्वारा जो विषय राज्य-सूची के अन्तर्गत रखे गए हैं उनके सम्बन्ध में उसको सम्पूर्ण अधिकार प्राप्त है। शासन के समस्त कार्य उसी के नाम से होते हैं। कार्य-पालिका के अध्यक्ष के रूप में वह राज्य के मुख्यमंत्री की नियुक्ति करता है। राज्यपाल लोक-सेवा आयोग तथा उच्च सदन के सदस्यों आदि की नियुक्ति करता है। वह मंत्रियों के कार्यों का बटवारा करता है तथा शासन को सुचारु रूप से चलाने के लिए नियम बनाता है। इसके सिवाय वह राज्य के महाधिवक्ता (Advocate General) की नियुक्ति करता है तथा राज्य की विधान-सभा में एक एंग्लो इण्डियन को भी मनोनीत करता है तथा राज्य की विधान-परिषद् में 1/6 सदस्यों को मनोनीत करता है।

यदि वह अनुभव करता है कि राज्य पर कोई वैधानिक संकट या राज्य में आंतरिक-शांति भंग होने की सम्भावना है तो वह भारत के राष्ट्रपति को इसकी तुरन्त सूचना देता है। यदि उसके कहने पर राष्ट्रपति संकटकालीन उद्घोषणा करदे तो (क) वह राष्ट्रपति के आदेशानुसार शासन का समस्त भार अपने हाथ में ले सकता है। (ख) उसका राज्य के अध्यक्ष होने के नाते विधान-मण्डल को भंग करने, विघटित करने तथा उसकी अवधि बढ़ाने का भी अधिकार प्राप्त है।

2. विधायनी शक्तियाँ—राज्यपाल को विधान-मण्डल को बुलाने, बैठक स्थगित करने तथा विघटित करने की शक्ति प्राप्त है। उसे विधान-मण्डल में भाषण देने व संदेश भेजने की भी शक्ति प्राप्त है। वह विधान-मण्डल की अवधि में वृद्धि कर सकता है। उसे संयुक्त-अधिवेशन आहूत करने की भी शक्ति प्राप्त है। विधान-मण्डल के द्वारा पास हुआ कोई विधेयक राज्यपाल की स्वीकृति के बिना कानून नहीं बना सकता। उसे विधेयक को स्वीकृत करने, संशोधित करने तथा राष्ट्रपति के विचारार्थ रोके रखने का अधिकार है। वित्त-विधेयक के सिवाय अन्य विधेयक को वह विधान-मण्डल में पुनर्विचार के लिए भेज सकता है, किन्तु यदि विधान-मण्डल पुनः उसको

पास कर देता है तो राज्यपाल को उस पर हस्ताक्षर करने पड़ते हैं। विधान-मण्डल को यह अधिकार है कि वह राज्यपाल के संशोधनों को स्वीकार करे या न करे। जब विधान-मण्डल का अधिवेशन न हो रहा हो उसे अध्यादेश जारी करने का अधिकार प्राप्त है। उन अध्यादेशों का विधान-मण्डल के कानून के समान ही प्रभाव होगा। प्रत्येक अध्यादेश का राज्य के विधान-मण्डल के सामने अगले अधिवेशन में रखा जाना आवश्यक है। यदि विधान-मण्डल उसे पास कर देता है तो वह कानून का रूप धारण कर लेगा। विधान-मण्डल उसे स्वीकार या अस्वीकार कर सकता है। इस अध्यादेश का जीवन 6 सप्ताह से अधिक न होगा। विधान-मण्डल इस समय से पूर्व भी उसका अन्त कर सकता है।

3. **वित्तीय शक्तियाँ**—राज्य-विधान-सभा में राज्यपाल की पूर्व स्वीकृति के बिना कोई भी वित्त-विधेयक प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। वह विधान-मण्डल के समक्ष प्रतिवर्ष बजट प्रस्तुत कराता है तथा उसकी सिफारिश के बिना किसी भी अनुदान की माँग नहीं की जा सकती। राज्यपाल विधान-मण्डल से पूरक, अतिरिक्त तथा अधिक अनुदानों की भी माँग कर सकता है। राज्य संचित निधि राज्यपाल के ही अधिकार में रहती है तथा विधान-मण्डल से स्वीकृति की उपेक्षा में वह इस निधि से किसी भी प्रकार के व्यय की अनुमति दे सकता है।

4. **न्यायिक शक्तियाँ**—संविधान के अनु० 161 के अनुसार जिन विषयों पर राज्य की कार्य-पालिका-शक्ति का विस्तार होता है उन विषयों सम्बन्धी किसी विधि के विरुद्ध अपराध करने वाले व्यक्तियों के दण्ड को राज्यपाल कम कर सकता है, स्थगित कर सकता है, बदल सकता है, तथा क्षमा भी कर सकता है।

राज्यपाल की स्थिति—उपर्युक्त विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि संविधान द्वारा राज्यपाल को बहुमुखी शक्तियाँ प्रदान की गई हैं। इससे ऐसा लगता है कि उसकी स्थिति बड़ी भयावह है। किन्तु वास्तविकता यह है कि वह इन समस्त अधिकारों का प्रयोग स्वयं नहीं करता। इन समस्त शक्तियों का प्रयोग मंत्रि-परिषद् करती है जो विधान-मण्डल के प्रति अपने समस्त कार्यों के लिए उत्तरदायी है। उसका पद-शक्ति का पद न होकर सम्मान का पद है। संघ के राष्ट्रपति के समान राज्य का राज्यपाल भी वैधानिक शासक है।

इतना होते हुए भी उसको पूर्ण रूपेण शक्ति-हीन नहीं कहा जा सकता। वह शासन न करते हुए भी राज्य के विषयों में पर्याप्त प्रभाव रखता है। अपने निर्दलीय व्यक्तित्व के आधार पर राज्यपाल राज्यशासन की ढुलमुल व परिवर्तनशील राजनीति में स्थायित्व और स्थिरता लाने की स्थिति में होता है। यदि राज्यपाल प्रभावशाली व्यक्तित्व वाला हो और कार्यशील व्यक्ति हो तो वह विरोधी पक्ष और मंत्रि-मण्डल के बीच अनेक मतभेदों को दूर कराने में सहायक सिद्ध हो सकता है। एम० वी० पायली के अनुसार "राज्यपाल मंत्रि-मण्डल का सूझ वाला परामर्शदाता है, जो राज्य

की प्रशांत राजनीति में शान्त वातावरण पैदा कर सकता है।" श्री बी० जी० खेर ने संविधान-सभा में कहा था, "एक अच्छा राज्यपाल बहुत लाभ पहुँचा सकता है और एक बुरा राज्यपाल दुष्टता भी कर सकता है, यद्यपि संविधान में उसको बहुत कम शक्ति दी गई है।"

राज्यपाल वर्तमान सन्दर्भ में—संविधान के अनुसार राज्यपाल की स्थिति द्विस्वरूपात्मक है। एक तरफ वह राज्य में राष्ट्रपति का एजेन्ट है तथा दूसरी तरफ वह राज्य का संवैधानिक अध्यक्ष। चूंकि उसकी स्थिति द्वि-स्वरूपात्मक है इसलिए उसका कार्य भी दोहरा है। संविधान के सिद्धान्तों के अनुसार उसे सभी मामलों में मंत्रि-परिषद् की सलाह माननी होती है। फिर भी यदि संविधान का सूक्ष्म अध्ययन किया जाय तो मालूम होता है कि उसे कुछ स्वविवेकी शक्तियाँ भी प्राप्त हैं। राज्यपाल की स्वविवेकी शक्तियों का प्रयोग निम्नलिखित स्थितियों में किया जा सकता है—

1. मुख्य-मंत्री का चुनाव।
2. मन्त्रि-परिषद् की बर्खास्तगी।
3. विधान-सभा को भंग करना।
4. राज्य में संवैधानिक तंत्र की विफलता की रिपोर्ट राष्ट्रपति को देना।

चतुर्थ आम चुनाव से पूर्व कुछ राज्यों को अपवाद स्वरूप छोड़कर, अपने कार्य के सम्बन्ध में राज्यपाल को किसी प्रकार की कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता था और न ही उसे किसी प्रकार की आलोचना का लक्ष्य बनाया जाता था। इसका मुख्य कारण यह था कि केन्द्र और राज्यों में एक ही पार्टी का प्रभुत्व था।

किन्तु भारतीय राजनीतिक दृश्य चतुर्थ आम चुनाव में बदल गया। चुनाव के परिणाम स्वरूप कांग्रेस पार्टी का प्रभुत्व राज्यों एवं केन्द्र दोनों ही स्थानों पर समाप्त हो गया। आठ राज्यों में कांग्रेस-पार्टी का प्रभुत्व समाप्त हो गया। इस परिवर्तन ने राज्यपाल की भूमिका को बहुत प्रभावित किया। इसके साथ ही इसके कई परिणाम निकले—

प्रथम—राज्यों में एकदलीय सरकार की स्थापना असंभव हो गई और संयुक्त दलों की सरकारों का निर्माण हुआ किन्तु ये सरकारें स्थाई शासन प्रदान करने में असफल रहीं।

द्वितीय—दल बदल की राजनीति ने उग्र-रूप धारण कर लिया जिससे भारतीय राजनीति अत्यन्त दूषित हो गई। दल-बदल के कारण संयुक्त सरकारें स्थाई रूप से न टिक सकीं।

तृतीय—राज्यों में तो विरोधी-दलों की सरकारें बनी किन्तु केन्द्र में कांग्रेस की सरकार ही रही। इसने राज्य के प्रति केन्द्र के दृष्टिकोण में, राज्यपाल की भूमिका को लेकर सन्देह उत्पन्न किया।

इन घटनाओं के उपरान्त राज्यपाल पर आरोप-आक्षेप करने शुरू हुए कि वह संसदीय शासन-व्यवस्था के सिद्धान्तों का पालन नहीं कर रहा है। संसदीय-व्यवस्था के सिद्धान्तों के अनुसार सरकार तभी तक कायम रह सकती है जब तक कि उसे विधान-सभा में बहुमत का समर्थन प्राप्त रहता है। विधान-सभा में यह समर्थन जरूरी नहीं कि जिस पार्टी की सरकार हो उसी पार्टी का समर्थन भी उसे मिले। यह समर्थन अन्य दलों का भी हो सकता है जैसा कि कांग्रेस-विभाजन के बाद इन्दिरा गांधी को प्राप्त था। किन्तु विभिन्न राज्यों में राज्यपाल ने जो भाग अदा किया वह संसदीय-व्यवस्था के अनुकूल न था। राज्यपाल ने केन्द्र के निर्देशों एवं दलीय भावना को प्रमुखता दी। विरोधी-दलों की सरकारों के पतन के लिए उसने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। चूंकि राज्यपाल कांग्रेस पार्टी का था। उन राज्यों में थोड़े बहुत परिवर्तन के उपरान्त भी उसने कभी विधान-सभा को भंग कर दिया और कभी राष्ट्रपति को राष्ट्रपति-शासन के लिए पक्षपातपूर्ण रिपोर्ट भेजी।

उपर्युक्त घटनाओं के कारण राज्यपाल आलोचना एवं विवाद का विषय बन गया। राजनीतिक का घटनाचक्र स्पष्ट रूप से इंगित करता है कि आने वाले समय में अधिकांशतः संयुक्त सरकारों का ही निर्माण होगा। यदि राज्यपाल ने निष्पक्षता एवं निर्भीकता से कार्य न किया तो राज्य तथा समूचे देश के लिए एक विस्फोटक स्थिति उत्पन्न हो जायेगी। वास्तव में गवर्नर की स्थिति निर्णायक या एक पंच की भी है। उसे यह देखना होता है कि खेल न केवल नियमों के अनुसार खेला जा रहा हो बल्कि वह सही भावना के अनुसार भी खेला जाना चाहिए उसे इस प्रकार से कार्य करना चाहिए कि वह दलीय भक्ति से बचा रहे। उसे राजनीति के वातावरण से ऊपर उठा हुआ होना चाहिए, तथा उसका चरित्र भी सन्देह-जनक नहीं होना चाहिए। इसके अतिरिक्त राज्यपाल के पद पर ऐसे व्यक्तियों को नियुक्त किया जाना चाहिए जो शिक्षा, संस्कृति एवं विज्ञान तथा सामाजिक सेवा में उच्च स्थान प्राप्त किये हुए हो तो जिसकी निष्ठा-दल के प्रति इतनी गहरी न हो कि वह दलगत राजनीति से प्रभावित होकर कार्य करे।

सार रूप में हम कह सकते है कि संविधान के अनुसार राज्यपाल के पास वास्तविक एवं प्रभावशाली शासन करने की शक्ति नहीं होती। उसमें निहित शक्तियों का प्रयोग मंत्रि-परिषद् करती है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि वह राज्यों के राजनीतिक जीवन में 'सुनहरे जीरो' के सदृश है। ब्रिटेन के राजा की तरह वह भी राज्य-प्रशासन पर महत्वपूर्ण प्रभाव रखने की स्थिति में होता है। यह प्रभाव बहुत कुछ उसे राज्य के अध्यक्ष होने के नाते प्राप्त होता है तथा कुछ अंशों में उसके व्यक्तित्व पर भी निर्भर करता है। यदि राज्यपाल उच्च, चरित्रवान् एवं प्रति व्यक्तित्व वाला होगा, जो कि उसकी स्वार्थ रहित सेवा से विदित होता राजनीतिक एवं संवैधानिक दोनों ही दृष्टियों से राज्यों की राजनीति इतः

तक अथवा 65 वर्ष की आयु तक जो भी इन से पहले हो अपने पद पर बना रहता है। राज्य आयोग या संयुक्त-राज्य आयोग का सदस्य पदग्रहण की तारीख से 6 वर्ष की अवधि तक या 60 वर्ष की आयु प्राप्त होने तक, जो भी इनसे पहले हो, अपने पद पर बना रहता है। लोकसेवा आयोग के किसी सदस्य द्वारा अपनी पदावधि से पूर्व भी त्याग-पत्र दिया जा सकता है। एक बार अवधि समाप्त होने पर पुनः उस पद पर नियुक्त किया जा सकता है। राष्ट्रपति अथवा राज्यपाल भी उनके दुर्व्यवहार के कारण पदच्युत कर सकता है। किन्तु सर्वोच्च न्यायालय द्वारा उसके आरोपों की जाँच करेगा तथा उनकी सत्यता बतलाने पर ही उसे हटाया जा सकता है। निम्न बातों के आधार पर राष्ट्रपति को आयोग के सदस्य अथवा सभापति को पदच्युत करने का अधिकार प्राप्त है—

1. यदि वह दिवालिया हो।

2. यदि वह अपने पद के अतिरिक्त कोई वेतन भोगी कार्य करता हो।

संघीय आयोग के अध्यक्ष एवं वेतन तथा उनकी सेवा-शर्तें राष्ट्रपति द्वारा विनियमित की जाती हैं। नियुक्ति के बाद उनकी सेवा-शर्तों में उनके हित के विरुद्ध किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया जा सकता है। इस समय संघीय आयोग के अध्यक्ष का वेतन 4000 व अन्य सदस्यों का वेतन 3000 रु० प्रतिमास है। इनके वेतन भत्तों पर विधान-मण्डल से मत नहीं लिया जाता। इस प्रकार ये विधान-मण्डल के हस्तक्षेप से मुक्त हैं।

लोकसेवा आयोग के कार्य—संविधान के अनु० 320 के अनुसार लोक सेवा आयोग के निम्नलिखित कर्त्तव्य हैं—

1. संघ तथा राज्यों की सेवाओं में नियुक्तियों के लिए प्रतियोगी परीक्षाओं का आयोजन कर व्यक्तियों को चयन करना।

2. दो या अधिक राज्यों के आग्रह पर लोक सेवा आयोग द्वारा संयुक्त नियोजन अथवा भर्ती के लिए राज्यों की सहायता करना।

3. संघीय या राज्य लोक सेवा आयोग निम्नलिखित विषयों में संघ तथा राज्य-सरकारों को परामर्श देता है—

(क) असैनिक सेवाओं में तथा असैनिक पदों के लिए भर्ती की रीतियों से सम्बद्ध विचारों पर।

... असैनिक सेवाओं तथा पदों पर नियुक्त, पदोन्नति अथवा स्थानान्तरण ... बारे में अनुसरण किए जाने वाले सिद्धान्तों पर।

... ाज्यों के सरकारी कर्मचारियों पर प्रभाव डालने वाली सभी ... ों के विषय पर।

... ा राज्य के कर्मचारी के विरुद्ध की गई कानूनी कार्य- ... में।

पिछले स्तर की न होगी। इससे राज्यों की संसदीय-व्यवस्था का भविष्य उज्ज्वल होगा।

प्रश्न 25 – लोक-सेवा आयोग के संगठन उसके कार्यों व शक्तियों पर प्रकाश डालिये।

अथवा

लोकसेवा आयोग के गठन व कार्यों की संक्षिप्त रूपरेखा देते हुए एम. ए. मुतालिब के लोकसेवा आयोग को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए दिये गये सुझावों का उल्लेख कीजिये।

अथवा

केन्द्रीय लोकसेवा आयोग पर एम. ए. मुतालिब के मतों की विवेचना कीजिये।

उत्तर—आवश्यकता—देश का सारा प्रशासनिक भार सरकारी कर्मचारियों पर होता है जबकि मन्त्रिपरिषद् एवं अन्य निर्वाचित सदस्य तो उन पर नियन्त्रण रख सकते हैं। अतः यह आवश्यकता है कि इन कर्मचारियों में योग्यता, निपुणता और ईमानदारी हो। देश का कितना ही अच्छा संविधान हो, मंत्री कितने ही आदर्शवादी व देश-भक्त हों, परन्तु जब तक दैनिक प्रशासनिक कार्यों को करने वाले सार्वजनिक सेवी कर्मचारी योग्यता, ईमानदारी एवं निष्पक्षता से कार्य न करें तब तक शासन उत्तम नहीं हो सकता। विधानमण्डल या मन्त्रिपरिषद् प्रशासन का कार्य स्वयं और प्रत्यक्ष रूप से नहीं करते हैं वरन् प्रत्यक्ष रूप से प्रशासनिक कार्य स्थाई कर्मचारियों द्वारा किया जाता है।

इन सारी बातों के महत्व को ध्यान में रखते हुए भारत के संविधान पक्षपात रहित और योग्य व्यक्तियों का राजकीय सेवा के लिये चुनाव करने की व्यवस्था की है। यह सारी व्यवस्था जिस संगठन के द्वारा की जाती है उसे संघीय-लोक सेवा आयोग कहते है। सभी प्रगतिशील देशो मे सरकारी-कर्मचारियो की नियुक्ति वहाँ के लोकसेवा आयोग द्वारा की जाती है। इससे प्रशासन में शुद्धता, निष्पक्षता एवं कार्य-कुशलता रहती है।

लोकसेवा आयोग का निर्माण—आयोग का एक अध्यक्ष तथा सात सदस्य होते है। संघ लोकसेवा आयोग या संयुक्त तथा राज्यों के सदस्यों की संख्या एवं उनकी सेवा की शर्तों का निर्णय राष्ट्रपति करेंगे तथा राज्यों के लोक सेवा आयोग से सम्बन्धित इन विषयो का निर्णय राज्य के राज्यपाल करेंगे।

सदस्यों की नियुक्ति एवं पदावधि—आयोग के अध्यक्ष तथा सदस्यों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। इन व्यक्तियों के लिए यह आवश्यक है कि इनमे से आधे व्यक्ति तो कम से कम दस वर्ष तक राज्य-सेवा मे रह चुके हों। संघीय लोक सेवा आयोग का सदस्य अपना पद ग्रहण करने की तारीख से 6 वर्ष की अवधि

तक अथवा 65 वर्ष की आयु तक जो भी इन से पहले हो अपने पद पर बना रहता है। राज्य आयोग या संयुक्त-राज्य आयोग का सदस्य पदग्रहण की तारीख से 6 वर्ष की अवधि तक या 60 वर्ष की आयु प्राप्त होने तक, जो भी इनसे पहले हो, अपने पद पर बना रहता है। लोकसेवा आयोग के किसी सदस्य द्वारा अपनी पदावधि से पूर्व भी त्याग-पत्र दिया जा सकता है। एक बार अवधि समाप्त होने पर पुनः उस पद पर नियुक्त किया जा सकता है। राष्ट्रपति अथवा राज्यपाल भी उनके दुर्व्यवहार के कारण पदच्युत कर सकता है। किन्तु सर्वोच्च न्यायालय द्वारा उसके आरोपो की जांच करेगा तथा उनकी सत्यता बतलाने पर ही उसे हटाया जा सकता है। निम्न बातो के आधार पर राष्ट्रपति को आयोग के सदस्य अथवा सभापति को पदच्युत करने का अधिकार प्राप्त है—

1. यदि वह दिवालिया हो।

2. यदि वह अपने पद के अतिरिक्त कोई वेतन भोगी कार्य करता हो।

सघीय आयोग के अध्यक्ष एव वेतन तथा उनकी सेवा-शर्तें राष्ट्रपति द्वारा विनियमित की जाती है। नियुक्ति के बाद उनकी सेवा-शर्तों मे उनके हित के विरुद्ध किसी भी प्रकार का परिवर्तन नही किया जा सकता है। इस समय सघीय आयोग के अध्यक्ष का वेतन 4000 व अन्य सदस्यो का वेतन 3000 रु० प्रतिमास है। इनके वेतन भत्तो पर विधान-मण्डल मे मत नही लिया जाता। इस प्रकार वे विधान-मण्डल के हस्तक्षेप से मुक्त है।

लोकसेवा आयोग के कार्य—संविधान के अनु० 320 के अनुसार लोक सेवा आयोग के निम्नलिखित कर्त्तव्य है—

1. सघ तथा राज्यों की सेवाओं मे नियुक्तियों के लिए प्रतियोगी परीक्षाओं का आयोजन कर व्यक्तियों को चयन करना।

2. दो या अधिक राज्यों के आग्रह पर लोक सेवा आयोग द्वारा सयुक्त नियोजन अथवा भर्ती के लिए राज्यो की सहायता करना।

3. संघीय या राज्य लोक सेवा आयोग निम्नलिखित विषयो मे सघ तथा राज्य-सरकारों को परामर्श देता है—

(क) असैनिक सेवाओं मे तथा असैनिक पदों के लिए भर्ती की रीतियो से सम्बद्ध विचारो पर।

(ख) असैनिक सेवाओ तथा पदों पर नियुक्त, पदोन्नति अथवा स्थानान्तरण की उपयुक्तता के बारे मे अनुसरण किए जाने वाले सिद्धान्तो पर।

(ग) संघ या राज्यो के सरकारी कर्मचारियो पर प्रभाव डालने वाली सभी अनुशासनात्मक कार्यवाहियों के विषय पर।

(घ) किसी संघीय अथवा राज्य के कर्मचारी के विरुद्ध की गई कानूनी कार्यवाही में खर्च के दावों के सम्बन्ध में।

(ङ) किसी संघीय अथवा राज्य के कर्मचारी द्वारा असैनिक हैसियत से सेवा करते समय किसी व्यक्ति को क्षति के बारे में निवृत्त वेतन (Pension) दिये जाने के लिए किसी दावे पर तथा दी जाने वाली रकम के विषय पर।

(च) राष्ट्रपति अथवा राज्यपाल द्वारा निर्दिष्ट अन्य किसी भी विषय पर।

इस प्रकार लोक सेवा आयोग संघीय तथा राज्यों की सेवाओं की भर्ती, पदों में उन्नति, बदली, पेन्शन, अनुशासन आदि के सम्बन्ध में संघ तथा राज्य-सरकारों को परामर्श देते है। यह एक परामर्शदात्री निकाय है। यह केवल परामर्श देता है कि किस पद या स्थान के लिए कौन प्रत्याशी उपयुक्त है। इसके परामर्श को मानना राष्ट्रपति या राज्यपाल के लिए आवश्यक नहीं हैं। किन्तु साथ ही संविधान ने राष्ट्रपति एवं राज्यपालों को यह अधिकार दिया है कि वे कुछ विषयों पर ऐसे विनिमय बना सकेंगे और निर्धारित कर सकेंगे कि कतिपय विशिष्ट परिस्थितियों में लोक सेवा आयोगों से परामर्श लेना आवश्यक नहीं होगा। उदाहरणार्थ इस सम्बन्ध में लोक सेवा आयोग से परामर्श मांगना आवश्यक नहीं कि पिछड़े वर्गों, अनुसूचित जातियों और अनुसूचित आदिम जातियों के लिए कितने पद या स्थान सुरक्षित रखे जायें। राष्ट्रपति एवं राज्यपाल कुछ विषयों पर परामर्श लेना आवश्यक कर सकते हैं।

अनु० 321 के अनुसार संसद या सम्बन्धित राज्य का विधान-मण्डल विधि द्वारा लोक सेवा आयोग के कार्य-क्षेत्र का विस्तार कर सकता है।

वार्षिक रिपोर्ट—लोक सेवा आयोग प्रतिवर्ष अपनी वार्षिक रिपोर्ट राष्ट्रपति या गवर्नर को अपने कार्यों के बारे में देता है। इसमें यह स्पष्ट करना पड़ता है कि सरकार ने रिपोर्ट के अनुसार क्या कार्यवाही की और किन बातों में सरकार की सिफारिश नहीं मानी। राष्ट्रपति उक्त रिपोर्ट की प्रतिलिपि केन्द्रीय विधान-मण्डल के दोनों सदनों तथा राज्यपाल विधान-मण्डल के एक या दोनों सदनों के समक्ष रखवाता है और रिपोर्ट के साथ अपनी ओर से एक ज्ञापन भी जोड़ता है जिसमें उन मामलों का पूर्ण विवरण रहता है जिन पर राष्ट्रपति ने संघीय लोकसेवा आयोग की सिफारिशों को स्वीकार नहीं किया।

लोक सेवा आयोग के सदस्यों की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये संविधान में निम्नलिखित प्रावधान रखे गये हैं—

1. आयोग के सदस्यों की कार्यविधि निश्चित है। कोई भी सदस्य द्वारा अपने पद पर नियुक्त नहीं किया जा सकता।

2. आयोग के किसी सदस्य को संविधान द्वारा निर्दिष्ट प्रक्रिया के अनुसार ही हटाया या निलम्बित किया जा सकता है।

3. आयोग के सदस्यों के लिये पर्याप्त वेतन और भत्तों की व्यवस्था की गई है।

4. नियुक्ति के उपरान्त सदस्यों की सेवा शर्तों में किसी प्रकार का अलाभकारी परिवर्तन नहीं किया जा सकता ।

5. आयोग पर हुआ व्यय संघ अथवा राज्य की संचित निधि पर भारित है ।

6. आयोग के अध्यक्ष या सदस्य कार्यकाल की समाप्ति के बाद किसी सरकारी पद पर नियुक्ति नहीं किये जा सकते, केवल आयोगो में ही पदोन्नति के रूप में उनकी पुन: नियुक्ति हो सकती है ।

6 उनकी कार्यविधि को 6 वर्ष या 65 वर्ष तक की आयु तक निर्धारित कर दिया गया है जिससे वे निष्पक्षता तथा स्वतन्त्रता के साथ कार्य कर सकें ।

भारत मे लोक सेवा आयोगों को सवैंधानिक स्थिति प्रदान की गई है, जबकि इगलैंड एवं अमेरिका मे ससदीय विधियों की देन है । इस दृष्टि से भारत में लोक सेवा आयोगो की स्थिति अधिक दृढ है ।

प्रश्न 26—भारत में पचायत राज के सिद्धान्त और व्यवहार के सन्दर्भ में स्थानीय स्वशासन पर प्रकाश डालिये ।

अथवा

भारत में स्थानीय स्वशासन की सस्थाओ के सगठन का सक्षिप्त उल्लेख कीजिये ।

अथवा

लोकतंत्र को सफल बनाने के लिए भारत में कहां तक का सत्ता का विकेन्द्रीकरण किया गया है ?

उत्तर—विकेन्द्रीकरण का अर्थ, आवश्यकता— देश मे लोकतन्त्र को सफल बनाने तथा संविधान मे उल्लखित आदर्शों की पूर्ति के लिये यह आवश्यक था कि सत्ता का विकेन्द्रीकरण हो क्योंकि ऊपरी स्तर तक लोकतंत्र उस समय तक सफल नहीं हो सकता जब तक उसे नीचे से सुदृढ आधार न मिले । अत: संविधान के अनुच्छेद 40 के अन्तर्गत ऐसी व्यवस्था की गई कि ' ग्रामीण क्षेत्रों में स्वायत्त-शासन को सुविधा देने के लिए सरकार ऐसी शक्तियों और अधिकारो से युक्त ग्राम-पचायत बनायेगी, जो उनको स्वायत्त-शासन की इकाइयो के रूप में कार्य करने के योग्य बनाने के लिए आवश्यक हो ।"

मॉटेग्यू हैरिस के अनुसार स्थानीय शासन का अभिप्राय उन स्थानीय सस्थाओ द्वारा शासन से होता है जो जनता द्वारा निर्वाचित की गई हो और जिन्हे राष्ट्रीय अथवा राज्य-सरकार के नियंत्रण मे रहते हुए भी कुछ मामलों मे अधिकार और उत्तरदायित्व प्राप्त है तथा उन अधिकारों का उपयोग वे किसी उच्चतर अधिकारी के नियत्रण के बिना ही अपने विवेक से कर सके ।

भारत में स्थानीय शासन का ढांचा

भारत मे स्थानीय शासन का वर्तमान ढांचा ब्रिटिश-शासन की देन है । भारत सरकार ने यहाँ भी स्थानीय शासन को वही रूप दिया जो ब्रिटेन में प्राप्त है ।

भारत में स्थानीय शासन के दो पृथक् क्षेत्र और दो पृथक् प्रणालियां हैं—एक शहरी क्षेत्र के लिए और दूसरी ग्रामीण क्षेत्रों के लिए।

भारत मे शहरी क्षेत्रो में चार मुख्य प्रकार की संस्थायें पाई जाती है—

1. निगम।
2. नगरपालिकाएं।
3 इम्प्रूवमेन्ट ट्रस्ट एव पोर्ट-ट्रस्ट।
4 वाछनीय बोर्ड।

1. निगम—शहरी क्षेत्रो मे स्थानीय-प्रशासन की सर्वोच्च इकाई नगर निगम होती है। जिसकी स्थापना बड़े-बड़े शहरो और राजधानी-क्षेत्रों में की जाती है। भारत मे विभिन्न शहरो मे कुल मिलाकर एक दर्जन से भी अधिक नगर निगम है। पटना, अहमदाबाद, नागपुर, पूना, हैदराबाद, कलकत्ता, बम्बई, मद्रास एवं दिल्ली आदि। बडे नगरो मे स्थानीय प्रशासन का सचालन नगर-निगमों द्वारा किया जाता है। नगर-निगम के कार्यों एवं शक्तियो का क्षेत्र नगर-पालिकाओं की तुलना में बड़ा व्यापक होता है। इन्हें कर-संग्रह की अधिक शक्तियां तो प्राप्त होती ही है, साथ ही बजट बनाने और विभिन्न कार्य सम्पन्न करने में भी नगरपालिकाओं की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्रता मिली होती है।

नगर निगम में एक परिषद्, कुछ स्थाई समीतियां होती है जिनमें कुछ को अ तिम निर्णय लेने की वैधानिक शक्ति भी प्राप्त होती है। राज्य-सरकार द्वारा एक मुख्य कार्य-पालिका अधिकारी की नियुक्ति की जाती है जिसे मेयर अथवा अन्य कोई नाम दिया जाता है। विषय के महत्व के आधार पर शक्तियों को विभिन्न सत्ताओं के मध्य विभाजित किया जाता है।

निगम का कार्यकाल चार साल है और उसके सदस्य मेयर को स्वयं चुनते है। पुलिस कमिश्नर, पोर्ट-ट्रस्ट का चेयरमैन और एक्जेक्यूटिव इंजीनियर अपने पदों के कारण निगम के सदस्य होते हैं। बहुसंख्यक नगरो मे कुछ ऐसे भी सदस्य होते है जिन्हें जनता द्वारा निर्वाचित सदस्य चुनते हैं और जिन्हें एल्डरमैन (Aldermen) कहते हैं।

2. नगर-पालिकाएं—*राज्य-सरकार किसी भी ऐसे कस्बे में नगर-पालिका का* सगठन करा देती है जो इन शर्तों को पूरा करता हो—कस्बे की जन-सख्या कम से कम 5 हजार हो, तीन चौथाई प्रौढ़-पुरुष जन-सख्या कृषि के अतिरिक्त अन्य व्यवसाय पर निर्भर रहती हो एवं कस्बे के प्रति-वर्ग मील क्षेत्र पर एक हजार व्यक्ति रहते हों।

प्रत्येक नगर-पालिका मे एक परिषद् होती है जिसकी सदस्य-संख्या का निर्णय वहां की जन-संख्या के आधार पर राज्य-सरकार द्वारा किया जाता है। नगर-परिषद् मे प्राय: 10 से 50 तक सदस्य होते हैं। परिषद् के 8 सदस्य वयस्क मताधिकार के आधार पर जनता द्वारा निर्वाचित किए जाते हैं। शेष सदस्यो को राज्य

सरकार द्वारा मनोनीत किया जाता है ताकि वे अल्प-संख्यकों और विशेष हितों का प्रतिनिधित्व कर सकें।

नगर-परिषद् के सदस्यों का कार्य-काल 5 वर्ष है। किसी-किसी राज्य में इसका कार्य-काल केवल 3 वर्ष ही रखा गया है। नगरपालिका-परिषद् अपने क्षेत्र में प्रायः सर्वोच्च होती है। नगरपालिका का एक सभापति (Chairman) और एक उप-सभापति (Vice Chairman) होता है।

नगरपालिका के प्रमुख-कार्य ये हैं—सड़क, पुल, चौराहे, बगीचे, तालाब, घाट, कुएं, नहर व नालियों आदि की रचना, सुरक्षा और सुधार-जल का वितरण तथा सड़कों पर पानी और प्रकाश की व्यवस्था अस्पताल, चिकित्सालय, धर्मशाला, आदि का निर्माण, टीका लगाने वालों की नियुक्ति, स्वास्थ्य-अधिकारियों, सफाई निरीक्षकों आदि की नियुक्ति करना।

नगरपालिका के राजस्व के स्रोतों को कई भागों में विभाजित किया जा सकता है—जैसे अप्रत्यक्ष कर, प्रत्यक्ष कर, सेवा के लिए जाने वाला कर, सरकारी अनुदान, जुर्माने, चुंगी, टर्मिनल टैक्स, जमीन व सपत्ति कर, व्यापार पर कर, बाजार कर आदि हैं। सेवा संबंधी करों में पानी, प्रकाश आदि सेवाओं से होने वाली आमदनी को लिया जा सकता है।

3. **इम्प्रूवमेंट एवं पोर्ट-ट्रस्ट**—इम्प्रूवमेंट ट्रस्टों की स्थापना मुख्यतः नगरों में रहने वाली जनता की सफाई, स्वास्थ्य और अन्य सुविधाओं में सुधार करने के लिए की जाती है। ये ट्रस्ट इमारतों को अव्यवस्थित रूप में बनने से रोककर नगर का व्यवस्थित रूप से विकास करते हैं। नगर में खुले स्थानों, पार्कों, चौड़ी सड़कों, बाजारों, सार्वजनिक शौचालयों आदि की व्यवस्था करना इन ट्रस्टों का काम है।

बड़े-बड़े बन्दरगाहों के लिए बन्दरगाह ट्रस्ट (Port trust) है। उदाहरणार्थ कलकत्ता, बम्बई, मद्रास और विशाखा-पट्टनम् में स्थानीय संस्थाओं के रूप में बन्दरगाह ट्रस्ट हैं। इन ट्रस्टों के सदस्य वाणिज्य और व्यापार की संस्थाओं द्वारा चुने जाते हैं। सरकार भी सदस्यों को मनोनीत करती है। इन ट्रस्टों का बन्दरगाहों पर अधिकार होता है। ये बन्दरगाह की डाक, यार्डों एवं गोदामों का नियंत्रण करते हैं। बन्दरगाह की रक्षा, माल का प्रबन्ध, सामान उतारना व चढ़ाना, यात्रियों को सुविधाएं प्रदान करना आदि इनके मुख्य काम है।

4. **छांवनीय बोर्ड**—सैनिक स्थानों के प्रबन्ध के लिए छावनी बोर्ड हैं। पर सरकार के सैनिक-विभाग का नियंत्रण इन पर रहता है। इन बोर्डों का काम छावनी क्षेत्र की देख-भाल करना है। इनके सदस्य आमतौर पर चुने हुए होते है पर बोर्ड का अध्यक्ष सरकार द्वारा मनोनीत अधिकारी होता है। छावनी बोर्डों का निरीक्षण और नियंत्रण सैनिक नियमों के अनुसार किया जाता है।

भारत में देहाती क्षेत्रों के लिए पंचायती राज की व्यवस्था लागू की गई जिसकी तीन मुख्य इकाईयां हैं—

1. ग्राम-पंचायत ।
2. पचायत-समिति ।
3. जिला-परिषद् ।

1 ग्राम-पंचायत—ग्राम-पंचायत एक गाँव या कुछ गाँवों के समूह को मिलाकर बनाई जाती है । पंचायत-क्षेत्र की आबादी निश्चित कर दी जाती है और फिर उस आधार पर एक अथवा एक से अधिक गाँवो को मिलाकर एक पंचायत बनाई जाती है जिसे ग्राम-पचायत कहते है । प्रत्येक पचायत-क्षेत्र को वार्डों मे बाँट दिया जाता है और प्रत्येक वार्ड से वयस्क मताधिकार के आधार पर एक प्रतिनिधि नागरिको द्वारा चुना जाता है जिसे पच कहते है । ग्राम-पचायत का अध्यक्ष सरपंच होता है जिसे पचायत-क्षेत्र के सभी नागरिक प्रत्यक्ष रूप से चुनते है ।

पचायत का कार्यकाल 3 से 5 वर्ष तक होता है और यह अपने क्षेत्र के लिए विकास की योजनाएँ बनाती तथा आने वाले वर्ष के लिए बजट मजूर करती है । ग्राम-पचायत के मुख्य-कार्य निम्नलिखित हैं—स्वास्थ्य व सफाई, सड़क बनवाना, शिक्षा का प्रसार करना, भूमि-सुधार, सहकारी आंदोलन और परिवार-नियोजन को बढावा देना, कृषिवन सरक्षण तथा नस्ल सुधार संबंधी कार्य करना । ग्राम-पंचायत की आय के साधन निम्नांकित होते है—मकान कर, वाहन कर, चुंगी कर, यात्री कर, राज्य-सरकार व अन्य स्रोतो से प्राप्त सहायता ।

2 पचायत-समिति—ग्राम-पंचायतो के कार्यों का निरीक्षण करने तथा उनके संगठन को प्रभावशाली बनाने के लिए तहसील स्तर पर समितियाँ बनाई जाती हैं, जिन्हे पचायत-समिति कहते है । समिति के सदस्यों का निर्वाचन परोक्ष रूप से ग्राम-पचायतो द्वारा होता है । पंचायत-समिति के अध्यक्ष को प्रधान कहा जाता है । पंचायत समिति मे निम्नलिखित सदस्य होते हैं—(1) खण्ड की समस्त-पचायतो के सरपंच । (2) कृषि-पंडित, (3) दो महिलाएँ, (4) अनुसूचित अथवा आदिम-जाति से एक प्रतिनिधि, (5) सहकारी-समिति की प्रबन्धकारी-समिति का एक सदस्य (6) दो ऐसे व्यक्ति जिन्हें प्रशासन, जन-स्वास्थ्य अथवा ग्राम-विकास का अनुभव हो । इसके अतिरिक्त सहयोगी के रूप मे राज्य विधानसभा का सदस्य होता है ।

पंचायत-समिति का कार्यकाल तीन वर्ष होता है । पंचायत-समिति के निम्न-लिखित कार्य होते हैं—सामुदायिक-विकास, कृषि, पशुपालन, स्वास्थ्य-रक्षा, शिक्षा-संचार-व्यवस्था, सहकारिता, कुटीर-उद्योग, पिछड़े वर्ग के लिए कार्य, आंकड़ो का संग्रह, न्याय, वन, ग्राम, भवन-निर्माण व प्रचार आदि ।

पंचायत-समिति की आय के साधन निम्नलिखित हैं—राज्य-सरकार द्वारा प्राप्त हुआ अनुदान, ऋण, भूराजस्व का कुछ अंश, पचायत-समिति के करो व फीस से प्राप्त आय ।

3. जिला-परिषद्—प्रत्येक राज्य के हर जिले मे एक जिला-परिषद् होती

है। परिषद् में जिले की पंचायत-समितियों के अध्यक्ष होते हैं। संसद तथा विधान-सभा के सदस्य भी इसमें हो सकते हैं। जिलाधीश परिषद् का अध्यक्ष होता है।

जिला-परिषद् का कार्य-क्षेत्र जिले का सम्पूर्ण ग्रामीण क्षेत्र होता है। जिला-परिषद् में निम्नलिखित सदस्य होते है—जिले की संपूर्ण पंचायत-समितियों के प्रधान, एक महिला, एक सदस्य अनुसूचित अथवा आदिम जाति से।

जिला-परिषद् के निम्नलिखित कार्य होते हैं—(1) विभिन्न-पंचायत समितियों के कार्य में समन्वय स्थापित करना, (2) पंचायत-समितियों का निरीक्षण करना और उनके बजट की जाँच करना, (3) ग्राम-पंचायतों व पंचायत-समितियों के विषय में सरकार को राय देना, (4) जिलों में सारे विकास कार्यों का संपादन करना तथा राज्य-सरकार को विकास-कार्यों के संबंध में परामर्श देना है।

जिला-परिषद् के आय के साधन राज्य-सरकार द्वारा अनुदान, जनता तथा पंचायत-समितियों की दी हुई सहायता आदि हैं।

इस प्रकार पंचायत-राज द्वारा सर्वसाधारण जनता से लेकर केन्द्रीय-सरकार तक पारस्परिक सम्पर्क का एक सूत्र बैठाने का प्रयास किया गया है और यह चेष्टा की गई है कि मामूली से मामूली आदमी की आवाज को भी उचित-शक्ति और समर्थन प्राप्त हो सके। श्री चतुर्वेदी ने लिखा है कि "पंचायती राज की संस्थाओं का निर्माण असल में जनतंत्र को सुदृढ़ बनाने और जनता को किस प्रकार राहत मिले इस उद्देश्य से किया गया है।"

(D) भारतीय राजनीति में विभिन्न संस्थाओं का स्थान

प्रश्न 27—भारत में दलगत राजनीति (Party Politics) का क्या रूप है ?

अथवा

भारत के विभिन्न राजनीतिक दलों का उल्लेख करते हुए बताईये कि इन्होंने भारतीय राजनीति को कहां तक प्रभावित किया है ?

क्या आप इस कथन से सहमत हैं कि भारतीय दलगत राजनीति दिनों-दिन विकृत होती जा रही है ?

उत्तर—अभिप्राय:—दलीय व्यवस्था जनतन्त्र की आत्मा है। दलो की प्रकृति और उनका संगठन जनतंत्र की सफलता व विफलता का निर्धारण करता है। जनतंत्र को साकार बनाने के लिए राजनीतिक दलों का अस्तित्व अपरिहार्य है। जहाँ राजनीतिक दलों के निर्माण व संगठन की स्वतन्त्रता न हो वहाँ जनतन्त्र का होना असंभव है। शासन-सत्ता हस्तगत करने, उसे स्थिर रखने, सरकार के दोष बताने और शासन में आवश्यक सुधारों के लिए राजनीतिक दलो का होना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। इतना ही नही संसदीय जनतत्र मे कुछ मूल्य, उद्देश्य और सिद्धान्त सभी दलों के हो

हैं। सभी राजनीतिक दलों के लिए यह आवश्यक होता है कि संसदीय सिद्धान्तों में उनकी आस्था, हिंसा और शक्ति प्रयोग के विपरीत वे संवैधानिक तरीकों में विश्वास रखते हों, अवसर मिलने पर सरकार बनाने की उनमें क्षमता हो अन्यथा या तो ससदीय जनतन्त्र का स्थान एकतंत्र ले लेगा अथवा राज्य दुर्गति और अराजकता का शिकार हो जाएगा।

भारत की दलीय-व्यवस्था का स्वरूप इतना अस्वस्थ और गंदा है तथा देश के सभी दलों की स्थिति ऐसी है कि जनता सदैव असमंजस में रहती है कि किस दल को वोट दिया जाए। अधिकांश जनता के सामने केवल यही विकल्प रहता है कि सशक्त और समृद्ध विरोधी दल के अभाव मे कांग्रेस को ही वोट दिए जाए जो अपनी निरन्तर गिरती हुई अवस्था में भी देश के शासन को संभालने में अन्य दलों की अपेक्षा अधिक समृद्ध है और साथ ही जिसका संगठन भी अन्य सभी दलों की अपेक्षा अधिक सुदृढ और सुव्यवस्थित है।

भारत के वर्तमान दल निम्नलिखित हैं—

1. भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस—स्वतन्त्र भारत का सर्वाधिक संगठित और राष्ट्र-व्यापी दल, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, तीन अवस्थाओं से गुजरकर अपनी वर्तमान स्थिति तक पहुंचा है। अपनी प्रथम अवस्था मे यह एक दबाव गुट था; दूसरी अवस्था मे राष्ट्रीय आंदोलन का एक मात्र संगठन, तीसरी व वर्तमान अवस्था मे यह आधुनिक भारत का राजनीतिक दल है। उसकी स्थापना 1885 ई० में हुई थी। 1885 से 1920 तक यह एक गुट मात्र था जिसका मुख्य उद्देश्य भारतीय जनता के कष्टों को ब्रिटिश सरकार के समक्ष उपस्थित करना था। प्रथम विश्व-युद्ध की समाप्ति के बाद इसका विश्वास अंग्रेजों की न्याय-प्रियता से उठ गया। इसने अब भारतीय जनता की माँगें मनवाने के लिए आंदोलन करने प्रारम्भ किए। प्रथम विश्व-युद्ध की समाप्ति से लेकर भारत के स्वतन्त्र होने तक यह स्वतन्त्रता-संग्राम का प्रमुख राष्ट्रीय संगठन रहा। स्वतंत्रता की प्राप्ति के पश्चात् महात्मा गांधी ने इसके विघटन कर दिए जाने की सलाह दी क्योंकि यह अपने लक्ष्य, भारत की स्वतन्त्रता प्राप्त कर चुका था। किन्तु गांधीजी के परामर्श को ठुकराकर इस दल ने स्वतंत्र भारत की राजनीति में प्रवेश करने का निश्चय किया परिणामस्वरूप यह राष्ट्रीय आन्दोलन के संगठन से बदलकर एक राजनीतिक दल गया।

कांग्रेस का कार्यक्रम स्पष्ट है। इस दल का लक्ष्य-भारत मे धर्म निरपेक्ष राज्य की स्थापना करना है। यह धार्मिक, जातीय, श्रेणी व प्रादेशिक भेदभावों को दूर कर राष्ट्र को विघटित करने वाली प्रवृत्तियों-प्रान्तीयता और जातीयता को मिटाना चाहता है। कृषि के क्षेत्र में यह सहकारी खेती का पक्षपाती है बेकारी दूर करना, देशहित में योजनाएँ बनाना, नागरिकों के भोजन, वस्त्र-मकान आदि की व्यवस्था करना, अल्प-मतो, हरिजनों और आदिवासियों के हितों पर ध्यान देना, भूदान और संपत्ति दान को प्रोत्साहित करना आदि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस लक्ष्य हैं।

इसका आर्थिक कार्यक्रम आधुनिक भारतीय चिन्तन की तीन धाराओं का संगम है जिसमे पहली है गाँधी के सर्वोदय समाज की विचारधारा जो समाज-कल्याण, विकेन्द्रीकरण कुटीर-उद्योग, ग्राम-आत्म-निर्भरता व मुक्त साहस की समर्थक है। दूसरी है समाजवादी राज्य में 'मुक्त-साहस' व्यवस्था बनाए रखना क्योंकि 90% उत्पादन निजी क्षेत्र के हाथ में है और तीसरी है उत्पादन के साधनों पर राज्य का अधिकार व नियन्त्रण तथा अन्य मार्क्सवादी व गैर मार्क्सवादी सामाजिक विचार। इन सबका परिणाम है कि यह दल मिश्रित अर्थ-व्यवस्था का पक्षपाती है। सार्वजनिक व निजी दोनों क्षेत्रों को साथ-साथ कार्य करने की स्वतंत्रता प्रदान करता है और आर्थिक विकास के लिए विदेशी पूँजी का स्वागत करता है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे यह शांति-पूर्ण सह-अस्तित्व, असंलग्नता, निशस्त्रीकरण और विश्व-शांति का समर्थक है। रंग-भेद की नीति व उपनिवेशवाद का विरोधी है और इसे विश्वास है कि संयुक्त-राष्ट्र के माध्यम से विश्व में शांति संभव है। पाकिस्तान व चीन द्वारा अधिकृत क्षेत्रों को पुनः प्राप्त करने की प्रतिज्ञा भी करता है।

सन् 1967 के पूर्व तक इस दल का एकच्छत्र शासन राज्यों एवं केन्द्र में रहा है किन्तु 1967 के आम चुनावो में आठ राज्यो में विरोधी दलों की सरकारें बनीं, किन्तु केन्द्र में सत्ता इसी के हाथ में रही। 1969 में राष्ट्रपति के चुनाव के पश्चात् कांग्रेस का विभाजन हो गया। इसके भी दो गुट हो गए प्रथम-पुरानी कांग्रेस कहलाती है जिसके समर्थक निजलिंगप्पा, मोरारजी देसाई, अतुल घोष आदि है तथा द्वितीय-नई कांग्रेस कहलाती है जिसके समर्थक जगजीवन राम व श्रीमती इन्दिरा गाँधी आदि है। प्रत्येक राज्य में भी कांग्रेस दो गुटों में बँट गई। इस विभाजन का परिणाम यह हुआ कि कांग्रेस के दोनों गुटों को अन्य दलों के साथ समझौता करना पड़ा। केन्द्र मे इन्दिरा कांग्रेस को सरकार कायम रखने के लिए साम्यवादी दलों, अकाली दल, डी० एम० के०, प्र. स. दल आदि दलों का समर्थन लेना पड़ा। इस सुविधा से बचने के लिए इन्दिरा गाधी ने लोकसभा की अवधि के 14 महीने पूर्व 27 दिसम्बर 1972 को लोकसभा भंग कर मध्यावधि चुनाव करवाए जिनमे नई कांग्रेस को 420 में से 350 सीटें प्राप्त हुईं। इस प्रकार पुन: यह स्पष्ट बहुमत प्राप्त करके केन्द्र में सत्तारूढ हुई है। पुरानी कांग्रेस के सदस्य एक-एक करके नई कांग्रेस में मिल रहे हैं और इस प्रकार पुरानी कांग्रेस अपनी अंतिम साँसें गिन रही है।

स्वतन्त्र दल—अपनी आर्थिक और सामाजिक नीतियों की दृष्टि से स्वतंत्र दल है। यह साम्यवाद विरोधी है। तथा कांग्रेस की अनेक समाजवादी नीतियों के विरुद्ध है। सन् 1959 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के द्वारा अपने नागपुर अधिवेशन में 'सहकारी खेती' के प्रस्ताव को स्वीकार कर लेने के प्रतिक्रिया स्वरूप इसका हुआ। इस दल की स्थापना वयोवृद्ध राजनीतिज्ञ श्री राजगोपलाचार्य ने की अन्य प्रमुख नेता प्रो० रंगा, मीनू मसानी आदि हैं। स्वतन्त्र दल की

प्रौचित्य को सिद्ध करते हुए चक्रवती राजगोपालाचार्य ने कहा है, "गांधीजी की मृत्यु के बाद हमारे सामने समाजवाद आया है। समाजवाद का खूब प्रचार किया जाता है क्योंकि इसका उत्तर देने के लिए गांधी जीवित नहीं हैं। मैं वे बातें ही कहता हूँ जो गांधी ने कही थी""""यदि गाधी या पटेल जीवित होते तो मुझे यह कार्य नहीं करना पड़ता।" राजगोपालाचार्य ने काग्रेस पर यह अभियोग लगाया है कि उसने वास्तव में साम्यवादी सिद्धान्तों को अपना लिया है। अतः स्वतंत्र दल का उद्देश्य "अधिनायक-वादिता के संभावित संकट से भारत की रक्षा करना" है।

यह दल गुट निरपेक्षता की नीति मे विश्वास नही करता, सैनिक संधियों के करने का पक्षपाती है। कृषि, व्यापार और उद्योग को सरकारी नियन्त्रण से मुक्त करना चाहता है। योजना आयोग को बन्द करना चाहता है, सरकारी व गैर सरकारी एकाधिकार को भी समाप्त करना चाहता है, प्रजातांत्रिक विकेन्द्रीकरण का पक्षपाती है, यह बैंक-राष्ट्रीयकरण की नीति का विरोधी है। स्वर्ण-नियन्त्रण के कानून को समाप्त करना चाहता है व बार-बार के संशोधन के खिलाफ है।

स्वतंत्र पार्टी की सफलता का मूल्याङ्कन इसी से किया जा सकता है कि 1962 के आम चुनावों में पहली बार ही इस दल ने लोक-सभा में 18 तथा राज्य विधान-सभाओं में 160 स्थान प्राप्त किए। 1967 में लोकसभा में 43 स्थान व राज्य-विधान-सभा में 255 स्थान मिले। 1971 के मध्यावधि चुनाव में चार दलीय मोर्चों मे सम्मिलित होने के फलस्वरूप इसे 8 स्थान ही प्राप्त हो सके हैं। राजस्थान, गुजरात, मद्रास, उड़ीसा व आन्ध्र-प्रदेश में यह पार्टी लोकप्रिय हुई।

भारतीय जनसंघ—भारतीय जनसघ की स्थापना डॉ० श्याम प्रसाद मुखर्जी ने गांधी की मृत्यु के उपरांत हिन्दू महासभा से त्याग-पत्र देने के बाद, सन् 1951 में की थी। जनसंघ दक्षिणपंथी राजनीतिक दल है। यह दल हिन्दू राष्ट्रवाद में मे विश्वास करता है और हिन्दू संस्कृति का भक्त है। इस दल का प्रमुख लक्ष्य अहिंसात्मक साधनों द्वारा व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर आधारित लोकतन्त्र की स्थापना है। वैदेशिक मामलो से यह तटस्थता की नीति में विश्वास करता है। इसकी नीतियाँ अखण्ड भारत की स्थापना, राष्ट्र-मण्डल में भारत के स्थान पर पुनर्विचार, पाकिस्तान मे अल्प-संख्यकों की सुरक्षा की उचित व्यवस्था तथा काश्मीर समस्या को स० रा० संघ से वापिस लेना है। इसका नारा बिक्री कर की समाप्ति, राष्ट्रीय वेतन बोर्ड की स्थापना, निजी उद्योग को प्रोत्साहन, विदेशी पूँजी का स्वागत, खानों, चाय बगानों काफी, रबड़ आदि उद्योगों का भारतीयकरण। एकात्मक सरकार की स्थापना, विकेन्द्रीकरण व राष्ट्र-भाषा के रूप में हिन्दी का प्रसार और प्रचार है।

जनसंघ की स्थापना के बाद इस की लोकप्रियता मे वृद्धि हुई है। प्रथम आम चुनाव मे लोक-सभा में जनसंघ को 3, द्वितीय मे 4 और तृतीय में 24 व चतुर्थ मे 35 स्थान प्राप्त हुए हालांकि पंचम महानिर्वाचन में इसे केवल 22 स्थान ही मिल सके हैं किन्तु इसका प्रभाव क्षेत्र बढ़ता जा रहा है। उत्तरी-भारत के उत्तर-प्रदेश,

मध्य-प्रदेश, दिल्ली, राजस्थान, हरियाणा और पंजाब आदि राज्यों में इसका अधिक प्रभाव देखने को मिलता है। कई राज्यो में इसने सरकार बनाने में साझेदार का काम किया। आलोचको का कहना है कि जनसंघ का उग्र राष्ट्रवाद इसे एक फासिस्ट वादी संगठन बना देता है।

साम्यवादी दल—भारतीय साम्यवादी दल की स्थापना सन् 1924 में हुई थी। सन् 1943 तक इस पर प्रतिबन्ध लगा रहा। स्वाधीनता प्राप्त होने के बाद इस दल में तीन गुट बन गए दक्षिण पंथी, वामपंथी व मध्यम गुट। दक्षिण पंथ का नेतृत्व पी० सी० जोशी ने किया जो भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का समर्थक था। वामपंथियो के नेता रणदिवे थे, जो कांग्रेस-विरोधी और हिंसक उपायों के समर्थक थे। मध्यम गुट के नेता अजय घोष थे जो दल की खाई को पाटने की सदैव चेष्टा करते थे।

अन्य देशों के साम्यवादी दलो की भांति भारतीय साम्यवादी दल भी श्रमिक वर्ग तथा कृषकों का रक्षक है। यद्यपि दल की नीतियाँ तथा कार्यक्रम काफी सन्तोष-जनक मालूम होते हैं किन्तु इसके इतिहास से पता चलता है कि इसने सदा ही एक राष्ट्र विरोधी दल के रूप मे कार्य किया है।

प्रथम आम चुनाव मे इसने लोकसभा को 26 और राज्य-विधान-सभाओं की 173 सीटें जीती। द्वितीय आम चुनाव मे लोक-सभा मे 29 और विधान-सभाओं में 162 स्थान प्राप्त किए। तृतीय आम चुनाव मे इसने लोक-सभा मे 29 और विधान-सभाओ मे 197 स्थान प्राप्त किए। सन् 1967 के आम चुनाव मे दक्षिण पंथी साम्यवादी दल ने लोकसभा मे 22 और विधानसभाओ मे 121 स्थान व वामपंथी साम्यवादी दल ने लोकसभा में 19 और विधान-सभाओं में 128 स्थान प्राप्त किये।

समाजवादी दल—1971 के मध्यावधि चुनाव में प्रजा समाजवादी दल व संयुक्त समाजवादी दल के बुरी तरह हार जाने के परिणाम स्वरूप दोनों दलो को मिलाकर एक नए समाजवादी दल का निर्माण किया गया है। 1971 के चुनाव में ससोपा को 3 व प्रसोपा को दो स्थान प्राप्त हुए थे। यह दल कांग्रेस का विरोधी है। राष्ट्रीयकरण का पक्ष पोषक, विकेन्द्रित प्रजातन्त्र का पक्षपाती है। यह राष्ट्र-मंडल से सम्बन्ध विच्छेद करना चाहता है।

प्रादेशिक एवं स्थानीय दल

उपर्युक्त राजनीतिक दलों के अतिरिक्त भारत में ऐसे अनेक राजनीतिक दल हैं जिन का प्रभाव कुछ राज्यो तक सीमित एवं महत्वपूर्ण है। इन राजनीतिक दलों ने अपने क्षेत्र मे गहरी जड़े जमा रखी है। इनमे निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—

द्रविड मुनेत्र कड़घम—अन्नादुरै द्वारा स्थापित यह दल मद्रास राज्य तक सीमित है। यह दल प्रतिक्रियावादी, जातिवादी, सम्प्रदायवादी तथा

दृष्टिकोण का है। इस दल के पास अपनी कोई सामाजिक, राजनीतिक व आर्थिक योजना नही है। चौथे आम चुनाव में इस दल ने असमानता, शोषण, भ्रष्टाचार आदि के विरुद्ध जिहाद की आड़ में नये नारे लगाये। यह दल सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक समानता मे आस्था रखता है। वह देश के औद्योगीकरण का समर्थक है। चतुर्थ आम चुनाव में इसने लोकसभा मे 25 व मद्रास राज्य विधान-सभा मे 234 मे से 138 स्थान प्राप्त किए। 1971 के चुनाव में लोकसभा में रव विधान-सभा मे भी अच्छे स्थान प्राप्त किए।

अकाली दल—अकाली दल पंजाब मे सिख समुदाय का एक राजनीतिक सगठन है। यद्यपि इसकी प्रमुख माँग पंजाबी सूबे की स्थापना हो चुकी है, लेकिन फिर भी यह एक राजनीतिक सगठन के रूप मे क्रियाशील है। तीसरे आम चुनाव मे इसे लोक-सभा मे 3 तथा पजाब विधान-सभा में 19 स्थान प्राप्त हुए। चौथे आम चुनाव मे लोक-सभा मे 3 तथा विधान-सभा में 26 स्थान प्राप्त हुए।

उपरोक्त दलो के अतिरिक्त मुस्लिम लीग, हिन्दू महासभा, रिपब्लिकन दल, कृषक मजदूर दल, अनुसूचित जाति संघ, जमीयत उल उलेमाए, हिन्द फौरवर्ड ब्लॉक, रेडिकल डिमोक्रेटिक पार्टी और झारखण्ड दल जैसे स्थानीय और वर्गीय दल भारतीय राजनीति में सक्रिय हैं। समय बीतने के साथ-साथ इन स्थानीय और वर्गीय दलो का प्रभाव कम होता जा रहा है। राजनीतिक दलों की राज्य के स्तर पर बाढ़ सी आ गई है। यदि केवल ऐसे राजनीतिक दलो की गिनती की जाए जो अपने को समाजवादी कहते हैं तो एक लम्बी सूची बन जाएगी। दुर्भाग्य से भारत में इस प्रकार के निर्माण की प्रक्रिया अभी समाप्त नही हुई है, वरन् जहाँ कहीं भी चुनाव होने को होते हैं वहाँ ऐसे नए दल खड़े हो ही जाते हैं। इस प्रवृत्ति को लोकतंत्रीय व्यवस्था के लिए घातक ही कहा जा सकता है।

प्रश्न 28—भारत में दबाव समूह अभी पूर्ण रूप से विकसित नहीं हुए हैं। क्या आप इस कथन से सहमत हैं ?

अथवा

भारत के विभिन्न दबाव समूहों का वर्णन करते हुए उनकी कार्यपद्धति पर प्रकाश डालिये।

अथवा

"भारतीय दबाव समूहों की कार्यप्रणाली अपने आप में अनूठी है", वर्णन कीजिए।

उत्तर—अर्थ—दबाव समूह स्त्रियों एवं पुरुषों के वे समूह होते हैं जो कि जनता के सामने निर्वाचन के समय कोई कार्यक्रम नही रखते बल्कि ये विशेष प्रश्नो से सम्बन्धित होते हैं। वे न तो पूर्णतः राजनीतिक सगठन होते हैं और न निर्वाचन के लिए अपने प्रत्याशी खड़े करते हैं। दबाव समूह व माध्यम है जिसके द्वारा एक से

हितो से सम्बन्धित व्यक्ति सार्वजनिक कार्यों की गति को प्रभावित करने का प्रयास करते हैं। इस प्रकार, कोई भी सामाजिक समूह, जो सरकार पर बिना औपचारिक नियन्त्रण किए राजनीतिक अधिकारियों के व्यवहार को प्रभावित करता है, दवाव समूह कहलाता है। मेजर वीनर ने दवाव समूह की परिभाषा देते हुए लिखा है कि "दवाव-समूह से हमारा तात्पर्य ऐसे किसी ऐच्छिक रूप में संगठित समूह से होता है जो सरकार के सगठन से वाहर रहकर सरकारी अधिकारियों की नियुक्ति, सरकार की नीति, इसका प्रशासन तथा इसके निर्णय को प्रभावित करने का यत्न करता हो।" इन समूहों का निर्माण विशेष हितों की सुरक्षा के लिए होता है इसलिए इन्हें हित समूह कहा जाता है। ये सरकार पर ऐसी किसी नीति को न अपनाने के लिए जो उनके हितों के प्रतिकूल हो, प्रचार समाचार-पत्र, पर्चों, पुस्तको तथा रेडियो आदि माध्यमों द्वारा दवाव डालते हैं। अत ये दवाव-गुट कहलाते है।

दवाव समूहों के कार्य करने का ढंग

वे अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए मुख्यतः इन तरीकों का प्रयोग करते हैं—

(1) जनमत और सरकार की नीति को प्रभावित करने के लिए वे प्रचार कार्य करते हैं।

(2) वे चुनावों मे भाग लेते हैं, जिससे कि यह दल अथवा ये उम्मीदवार विजयी हों जो उनके हितों को वढाने में सहयोग दे सकें।

(3) उनके प्रतिनिधि तथा सक्रिय कार्यकर्ता दलो मे सम्मिलित हो जाते है या उनके कार्यों मे सक्रिय भाग लेते हैं।

(4) वे विधायकों से मिलकर उन पर अपने हित में प्रभाव डालने के प्रयत्न करते हैं, जिन्हें लाम्बी मे प्रभावित करना (Lobying) कहते है।

(5) वे बहुधा हड़ताल व प्रदर्शन सगठित करते हैं और कभी-कभी हिंसक कार्य भी करते है।

ऑस्टिन रैनी के मतानुसार दवाव समूहों के शस्त्र अर्थात् साधन निम्नलिखित हैं:—

(1) सगठन—दवाव समूहों के सगठनो के वार्षिक सम्मेलन होते है, जिनमें विभिन्न इकाईयों के प्रतिनिधि भाग लेते हैं और जो बहुमत से अपनी नीति व कार्यक्रम का निर्धारण करते हैं।

(2) लॉबिइग (Lobying)—'लॉबिइग' से तात्पर्य दवाव हित समूहों द्वारा सघीय विधायकों तथा राज्यो के विधायको को किसी विधेयक के पक्ष अथवा विपक्ष मे वोट डालने के लिए राजी करने की नीति होती है।'ये दवाव हित समूह अपने वैतनिक प्रतिनिधियो द्वारा 'लॉबिइग' के कार्यों को करते है। ये लोग विधायको के साथ व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित करते हैं तथा उन्हें विभिन्न विधेयकों के पक्ष विपक्ष मे वोट डालने के लिए राजी करने का प्रयत्न करते हैं।

(3) व्यापक प्रचार—ये लोकमत को अपने पक्ष में करने के लिए विभिन्न प्रकार से प्रचार-साहित्य वितरण तथा सभाओं आदि द्वारा करते हैं और इस कार्य पर काफी व्यय करते हैं।

(4) हड़ताल और प्रदर्शन—समय-समय पर वे हड़तालों और प्रदर्शनों का आयोजन करके जनमत को अपने पक्ष मे प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं।

(5) ये सक्रिय राजनीति से अलग रहते हैं, किन्तु चुनाव अभियान आदि मे भाग लेते है। राजनीतिक दलों को आर्थिक सहायता तथा कार्यकर्ता देते है।

दबाव गुटों के लाभ व हानियाँ

1. लाभ—जनता मे साहित्य का वितरण करके जनमत को शिक्षित करते हैं।

2. इन हित समूहो के अपने संगठन होते हैं जो उपयोगी सूचना एवं आकड़ो को एकत्र करते है।

3. इन समूहो के माध्यम से विभिन्न वर्गों के लोगो के हितो मे अभिवृद्धि होती है एव वे सुरक्षित रहते हैं।

विधायकों तथा प्रशासकों को भी इन समूहों के प्रतिनिधियो के साथ मंत्रणा तथा परामर्श करने में सुविधा रहती है।

हानियाँ 1. कभी-कभी इन समूहों के हितों मे आपस मे टकराव उत्पन्न हो जाता है जिससे सामान्य हित को हानि पहुंचने की सम्भावना नही रहती।

2. इनसे राजनीतिक जीवन को पवित्रता तथा स्वच्छता को खतरा है।

3. ये विधायको को विभिन्न उचित एवं अनुचित उपायो द्वारा न्याय के मार्ग से विचलित करने का प्रयत्न करते हैं।

4. जो शक्तिशाली तथा साधन-सम्पन्न समूह होते हैं वे सरकार से अपनी बात मनवाने मे सफल हो जाते हैं।

भारत में दबाव समूह

भारत में दबाव समूहो का उतना प्रभाव दृष्टिगोचर नही होता जितना कि पश्चिम के जनतन्त्रीय देशों में। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का आरम्भ ही एक दबाव समूह के रूप मे हुआ और उसे प्रभावित करने का प्रयास किया। भारत में दबाव समूह मुख्यत: चार प्रकार के हैं:—

1. विशेष हितो वाले समूह।
2. साम्प्रदायिक समूह व धार्मिक संगठन।
3. जाति एवं भाषा पर आधारित समूह।
4. गाँधीवादी विचारधारा पर आधारित संगठन।

1. विशेष हितों वाले समूह—भारत में इस प्रकार के समूहो का उदय पश्चिम के आधार पर ही हुआ है। इस श्रेणी के समूहों की संख्या मे बड़ी द्रुतगति

से वृद्धि हो रही है। इस प्रकार के हित समूहों पर बुद्धिजीवी वर्ग का नियन्त्रण है तथा इनका झुकाव राजनीति की ओर है। इनमें से बहुत से संगठन किसी न किसी राजनीतिक दल से सम्बद्ध है। इनमे मजदूर सघ, विद्यार्थी सघ, तथा सास्कृतिक संगठन है।

2. साम्प्रदायिक एवं धार्मिक समूह—इस श्रेणी में हम ऐसे समूहों को सम्मिलित कर सकते हैं जो किसी विशेष सम्प्रदाय अथवा धर्म के हितों को प्रोत्साहन देते हैं। कुछ ऐसे भी समूह है जिनका स्वरूप राजनीतिक है, परन्तु जिनका आधार विशुद्ध धार्मिक अथवा साम्प्रदायिक है। इनमें रिपब्लिकन दल, जम्मैयते उलेमा, अकाली दल, हिन्दू महासभा के नाम उल्लेखनीय है। कुछ ऐसे संगठन भी है जो विशेष धार्मिक समूहो के हितो के लिए कार्य करते हैं। इसमें ईसाईयों का अखिल भारतीय सम्मेलन, पारसियो की एसोसिएशन, आग्ल-भारतीय एसोसिएशन, आर्य प्रतिनिधि सभा, सनातन धर्म दक्षिणी सभा उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त भारत मे जाति समूह भी बड़ी सख्या में पाए जाते है जिनका उद्देश्य विशिष्ट जातियो के हितो का संवर्द्धन करना है। मारवाड़ी एसोसियेशन, वैश्य महासभा, हरिजन सेवक सघ इसके उदाहरण है।

3. जाति एवं भाषा पर आधारित समूह—कुछ अन्य संगठन ऐसे होते है जो कि जातीय तथा प्रादेशिक आधार पर संगठित है। अनेक शिक्षण सस्थाएं तथा छात्रावास जातियो द्वारा ही चलाए जाते है। कुछ जातियाँ तो इतनी सुसगठित हैं कि उनकी संस्थाओं मे बाहर के व्यक्ति की नियुक्ति भारत मे वैवाहिक सम्बन्ध भी जातियो में ही होते है। विश्व-विद्यालयों में अनेक पदक तथा छात्रवृत्तिया जातियों द्वारा अपनी जाति के छात्रों के लिए दी जाती है।

4. गांधीवादी विचारधारा पर आधारित संगठन—भारत मे कुछ हित समूह ऐसे भी है जो गान्धीजी के सिद्धान्तों एवं आदर्शों का प्रचार करते है। इनका कार्य किसी समूह विशेष तक सीमित नही है। ये अन्य दबाव समूहो की भांति सरकार पर दबाव नही डालते, वरन् लोगों के नैतिक, मनोवैज्ञानिक व चेतना जागृत करके समाज में परिवर्तन लाना चाहते है। सर्वोदय समाज, ग्रामीण उद्योग सघ, गौ-सेवा संघ, हिन्दुस्तानी प्रचार सभा इसके उदाहरण है। ये समूह किसी समूह विशेष के हित का नही, वरन् सबके कल्याण एवं समृद्धि के लिए कार्य करते है अतः इन्हें अन्य हित समूहों या दबाव-गुटों से पृथक रखना चाहिए।

भारत में दबाव-गुटों का भविष्य

भारत में दबाव-गुटों के विकास, उनकी कार्य-प्रणाली तथा उनकी सक्रियता को देखते हुए यही कहा जा सकता है कि पश्चिमी देशों की तुलना मे भारत के दबाव गुट न तो उतने सक्रिय हैं और न उन की उतनी महत्वपूर्ण भूमिका ही है। इसका मुख्य कारण यह है कि दबाव गुटो के स्वतन्त्र अस्तित्व का न होना। अधिक दबाव-गुट अथवा हित समूह किसी न किसी राजनीतिक दलों के पिछलग्गू बनकर रह गए हैं।

प्रश्न 29—भारतीय विदेशनीति के आधारभूत लक्षणों की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

अथवा

"भारतीय विदेशनीति अत्यधिक लचीली होने के कारण परिस्थितियों के अनुसार जहाँ फायदा होता है वहाँ झुक जाती है।" क्या यह कथन तथ्य युक्त है ?

उत्तर—भूमिका—भारत की विदेश-नीति एक मधुर विवाद का विषय रही है। एक तरफ तो इसकी प्रशंसा के पुल बाँधने वालों की कमी नहीं है जो इसका यशोगान करते नहीं थकते, दूसरी ओर ऐसे कितने ही महारथी मिलेंगे, जो नित्य-प्रति ही विदेश-नीति पर तर्क सहित आलोचना करते हैं। एक ओर तो भारत की विदेश-नीति को पूर्णतया सफल घोषित करके उसके जन्मदाता जवाहर लाल नेहरू को 'शांति के देवता' सिद्ध करने के दावे किये जाते है तो दूसरी ओर विदेश-नीति को पूर्णतया असफल मानकर जवाहर लाल नेहरू को 'खोखले आदर्शवाद का दूत' सिद्ध करने के प्रयत्न किये जाते हैं। एक ओर स्वर्गीय गोपाल स्वामी अयंगर के शब्दों मे कहा जाता है "पंडित नेहरू के नेतृत्व में भारत की विदेश-नीति कांग्रेस-शासन की सबसे बड़ी निधि है तथा अन्तर्राष्ट्रीय शांति केवल श्री नेहरू के सिद्धान्तों पर चलाने से ही प्राप्त हो सकती है और दूसरी तरफ श्री वी. पी. मेनन के शब्दों में कहा जाता है "हमारी विदेश-नीति के क्या परिणाम निकले ? हमारे देश पर आक्रमण किया गया और आक्रमक आज भी हमारी धरती पर विद्यमान है।"

भारतीय विदेश-नीति की निम्न विशेषताएं है—

1. **असंलग्नता (Non-alignment)**—भारतीय विदेश-नीति की सबसे प्रमुख विशेषता असलग्नता की नीति है। इसका सरल शब्दों में अर्थ है गुटों से पृथक् रहने की नीति अर्थात् गुटबन्दी में न मिलकर न्याय की ओर बोलना। इस नीति को एक जागरूक, सक्रिय व स्वतन्त्र नीति कह सकते है। क्योंकि इस नीति के द्वारा भारत किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय समस्या या गतिविधि को परखने व उसके बारे में कोई भी रुख अपनाने मे पश्चिमी अथवा साम्यवादी डोर से बधा नहीं है। वह किसी भी समस्या पर कोई भी निर्णय देने के लिए पूर्ण स्वतन्त्र है। इस सिद्धान्त के अनुसार भारत किसी भी समस्या का निर्णय उसके गुण-दोष के आधार पर करेगा, न कि किसी अन्य रिश्ते-नाते के आधार पर। इस प्रकार किसी गुट का पिछलग्गू व दुम-छल्ला नहीं है। किसी भी स्वार्थ के कारण किसी अन्य ताकत के इशारों पर नाचना उसे पसन्द नहीं है। यही कारण है कि भारत ने एक ओर मिश्र पर एंग्लो-फ्रेंच आक्रमण का विरोध किया तो दूसरी ओर उसने हंगरी पर सोवियत टैंकों की गड़-गड़ाहट के विरुद्ध अपना रोष प्रकट किया। हाल मे भारत ने सोवियत रूस से जो संधि की है इससे भारत की गुट निरपेक्षता की नीति के परित्याग के लांछन लगाए गये कि भारत ने असंलग्नता की नीति को त्याग दिया है। किन्तु वास्तव में भारत ने

अपनी नीति का परित्याग नहीं किया है क्योंकि यह सन्धि न तो कोई सैनिक सन्धि है और न ही किसी के विरुद्ध तो मात्र केवल शान्ति व सहयोग की सन्धि है।

2 शान्तिवाद का अवलम्बन—भारतीय विदेश-नीति शान्ति की प्रबल समर्थक है। पाकिस्तान द्वारा अनेक बार उत्तेजित होने पर भी भारत के शान्त रहने का यही महत्व है। भारत की विदेश नीति के अनुसार युद्ध अथवा आक्रमण किसी भी समस्या का समाधान नहीं है। अतः उसे हर हालत में टाला जाना चाहिए। भारत का विश्वास है कि संसार की सभी समस्याएं शान्ति के वातावरण में तथा शान्तिपूर्ण उपायों द्वारा सुलझाई जा सकती हैं। भारत की शान्ति-प्रियता का इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है कि चीन द्वारा भारत पर शर्मनाक आक्रमण के बावजूद भी श्री नेहरू चीन से सम्मानपूर्ण शर्तों पर बातचीत करने को तैयार रहे हैं। शिमला शिखर वार्ता भी भारत के शान्तिपूर्ण रवैए की द्योतक है।

3. पंचशील—एक जमाने में पचशील भारत की विदेश-नीति का एक बहुत बड़ा आदर्श माना जाता था। यह भारत की प्रत्येक नीति की आधार शिला थी। यद्यपि पचशील का सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर ढीला पड़ चुका है किन्तु भारत अब भी पंचशील की नीति का अनुसरण अपनी विदेश-नीति में कर रहा है।

4. उप-निवेशवाद का विरोध—भारत हर प्रकार के उप-निवेशवाद का विरोध करता है। सभी उप-निवेशों की राजनीतिक स्वतन्त्रता भारत का एकमात्र लक्ष्य रही है। भारत उप-निवेशवाद को शान्ति का शत्रु मानता है। यही कारण है कि विश्व में जहां कहीं भी राष्ट्रवादी आन्दोलन विदेशी सत्ता से मुक्ति पाने के लिए हुए हैं भारत ने खुलकर उनका समर्थन किया। इसका ज्वलन्त उदाहरण स्वतंत्र बंगला देश है। भारत स. रा. संघ में उप-निवेशवाद के विरुद्ध बराबर आवाज उठाता रहा है।

5. जातिगत भेद का विरोध—उप-निवेशवाद के अन्त के साथ-साथ भारत हर प्रकार के जातिगत तथा वर्णगत भेद का भी विरोधी रहा है। यही कारण है कि समय-समय पर भारत ने दक्षिणी अफ्रीका में रंग के आधार किए जाने वाले भेद-भाव की घोर निन्दा की। भारत ने स. रा. संघ में भी यही प्रस्ताव रखा था कि दक्षिणी अफ्रीका से जाति-भेद समाप्त किया जाए और स. रा. संघ ने इस हेतु प्रस्ताव भी पास किया था।

6. सभी से मित्रता—भारतीय विदेश-नीति की एक विशेषता यह भी है कि वह सभी राष्ट्रों के साथ मित्रता बनाए रखना चाहता है। भारत की दोस्ती का हाथ सभी के लिए बढ़ा रहता है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि जो हमारा अपमान कर हम पर आक्रमण करे, उससे भी हम मित्रता करेंगे। श्री नेहरू ने इस विषय में कहा था "वस्तुतः मेरा विचार है कि इस विशाल विश्व में ऐसा कोई देश नहीं है, जिसके साथ हमारे सम्बन्ध शत्रुतापूर्ण या विरोधी हो। स्वभावतः हम अपने आर्थिक व

व्यापारिक सम्बन्ध के कारण कुछ देशो की ओर अधिक आकृष्ट होगे, किन्तु इसमे सदेह नही कि हम सबके मित्र हैं।

7. संयुक्त राष्ट्र संघ में पूर्ण आस्था—भारत की स. रा. संघ में पूर्ण अवस्था व श्रद्धा है। उसे सयुक्त राष्ट्र घोषणा-पत्र के सभी नियम व सिद्धान्त मान्य हैं। इन सिद्धान्तो के प्रति-पूर्ण आदर की भावना व्यक्त करना तथा प्रत्येक दृष्टि से स. रा. के हाथ मजबूत करना, भारत की विदेश-नीति का प्रमुख लक्ष्य है। भारत हर तरह से स. रा. संघ के हर कार्य मे यथायोग्य सहायता व सहयोग देता है।

8. राष्ट्र-मण्डल की सदस्यता—ब्रिटिश राष्ट्र-मण्डल मे भारत की सदस्यता भी विदेश-नीति का एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त बन गया है। यद्यपि इसकी काफी आलोचना की गई है। किन्तु श्री नेहरू राष्ट्रमण्डल की सदस्यता के पूर्ण व कट्टर हामी रहे। 23 जुलाई 1957 को श्री नेहरू ने लोक-सभा में कहा था—"मैं यह जानना चाहूंगा कि राष्ट्र-मण्डल मे हमारे सम्मिलित होने से किस प्रकार हमारी नीति या जिसे हम अच्छा समझते हैं, उस बात की हानि होती है। उसने कई अन्य मामलो मे दूसरो को प्रभावित करने में काफी सहायता दी है। स्पष्ट कहा जाय मै किसी भी प्रकार के राष्ट्रो के सघ को तोड़ने का विरोधी हूँ। मैं अधिक सघ चाहता हूँ, कम नही।"

नेहरू का मत था कि जब तनावपूर्ण स्थिति बनी हुई है तथा जब विघटनकारी शक्तियाँ सर उठाए हुए है, तब संघटनकारी शक्तियो की अत्यत आवश्यकता है। ऐसे मे राष्ट्र-सघ की सदस्यता आवश्यक हो जाती है।

9. भावात्मकता—भारतीय विदेशनीति की एक विशेषता इसका भावात्मक होना है। प्राय. इसे तटस्थता की नीति का अनुदायी कहा जाता है। किन्तु यह ठीक नही है। तटस्थता अभावात्मक होती है। वह किसी पक्ष मे सम्मिलित नही होती, पूर्णरूप मे शांतिवादी और पार्थक्यवादी होती है। भारत की विदेश-नीति ऐसी नही है। वह भावात्मक व गतिशील है। तटस्थता की भांति निष्क्रिय नही, किन्तु पूर्णरूप से सक्रिय है। यह पहले से अपने को किसी पक्ष से बांधना नहीं चाहती, किन्तु समय पड़ने पर चुपचाप बैठकर तमाशा देखने वाली नही है। वह जिन शक्तियो व तत्वों को उत्तम समझती है, उनकी सहायता करने के लिए सदा तैयार है, ऐसे समय मे तटस्थता के नाम पर नपुंसकता नही प्रदर्शित करेगी। सितम्बर 1949 में स. रा. अमेरिका की कांग्रेस के समक्ष श्री नेहरू ने कहा था—"जहाँ स्वाधीनता सकट मे हो, न्याय खतरे में हो, आक्रमण की घटना हुई हो, हम वहाँ न तटस्थ रह सकते हैं और न तटस्थ रहेगे।"

भारत की असलग्नता की नीति तटस्थता से इस अंश मे भिन्न है कि वह आवश्यकता पड़ने पर युद्ध करने तथा विभिन्न गुटों से सैनिक सहायता लेने में संकोच

नही करती । अक्टूबर 1962 में चीन का विश्वासघाती हमला होने पर भारत ने मातृ-भूमि की रक्षा के लिए पश्चिम के सब बड़े देशों से सैनिक सहायता प्राप्त की थी ।

उपर्युक्त विशेषताएं भारतीय विदेश-नीति की रही हैं । हालांकि जब से यह प्रारंभ हुई है तब से लेकर इसमें कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुआ है । भारतीय विदेश-नीति में न तो चीन ने अमरीका जैसी सतर्क बुद्धि को विकसित करने की चिन्ता का संकेत है और न उसे 'चिरंवेति' 'चरैवेति' मन्त्र से स्फूर्त करने की ही जरूरत महसूस की जा रही है । सारा-सरकस जैसे 23-24 साल पहले शुरू हुआ था, उसी बेढंगी गति से चल रहा है । विदेश-नीति की गाड़ी यहां गजरों में चलती है । माइलों में नहीं । किन्तु फिर भी भारतीय विदेश-नीति में धीरे-धीरे दृढ़ता आती जा रही है ।

राजनीतिक पार्टियां और विदेश-नीति

1967 के आम-चुनाव उन दो युद्धों के पश्चात् हुआ जिनमें भारत को पाकिस्तान और चीन के विरुद्ध लड़ना पड़ा था । स्वभावत: उस समय राजनीतिक दलों का चिंतन उन घटनाओं से प्रभावित था । प्रत्येक देश को अपने निकट पड़ोसी देश के साथ संबंधों में सर्वाधिक रुचि रखनी पड़ती है और भारत भी इसका अपवाद नहीं है । पिछली घटनाओं के कारण भारत के राजनीतिक दलों का भारत के पड़ोसी देशों के प्रति रुख दिलचस्पी का विषय बना हुआ है । हाल के महीनों में भारत के सोवियत-संघ के साथ संबंधों की ओर लोगों का काफी ध्यान आकर्षित हुआ है । श्रीमती गांधी की सरकार पर यह आरोप लगाया जाता है कि वह सोवियत-समर्थक नीति का अनुसरण कर रही है । भारत-सोवियत संबंधों का मूर्त-रूप 9 अगस्त की संधि है । भारत के राजनीतिक दल इन विवादास्पद प्रश्नों पर जो रुख अपनाते हैं उस पर ध्यान देना दिलचस्प होगा ।

चीन के प्रति दल—चीन के बारे में दोनों कम्युनिस्ट पार्टियों, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी और मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी के रुख [illegible] समान हैं । दोनों चाहती हैं कि चीन के साथ सामान्य संबंध कायम करने के लिए भारत [illegible] करे । प्रजा समाजवादी दल का रुख है कि जब तक चीन [illegible] सैनों को वापस न कर दे तब तक उसके साथ [illegible] भारत के हित में न होगा । [illegible] का विश्वास है कि [illegible] के विरुद्ध [illegible] देशों से [illegible] । [illegible] 1967 [illegible] के [illegible] के विरुद्ध [illegible] था । [illegible] के संदर्भ में विदेश-नीति का [illegible] को [illegible] [illegible] । [illegible] पार्टी [illegible]

जन-संघ ने कहा है कि 'यह चीन तथा पाकिस्तान के दोहरे आक्रमण को समाप्त करने को कृत-संकल्प है। किन्तु जन-संघ ने 1967 के चुनाव घोषणा-पत्र में सिक्यांग और तिब्बत के स्वतन्त्र दर्जे को स्वीकार किया था और यदि ताइवान सरकार भारतीय क्षेत्रीय सीमाओं को स्वीकार करे तो वह उसे मान्यता देने को तैयार था।'

अविभाजित कांग्रेस ने अपने 1967 के चुनाव घोषणा-पत्र में स्पष्ट रूप से घोषणा की थी कि राष्ट्र अपने क्षेत्रों में किए गए हमलों को खत्म करने को कृत-संकल्प है और कांग्रेस उस संकल्प को पूरा करने के लिए वचन-बद्ध है।' नई कांग्रेस ने कुछ लचीली नीति अपनाई है। उसने 1971 के चुनाव घोषणा-पत्र में कहा कि हम प्रभुसत्ता और क्षेत्रीय अखंडता के परस्पर सम्मान तथा एक दूसरे के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप न करने के आधार पर चीन से अपना सामान्य-सम्बन्ध बनाने का प्रयास करेंगे।' पुरानी कांग्रेस ने अपने चुनाव घोषणा-पत्र या गत जून 1970 में स्वीकृत अपने नीति-संबंधी वक्तव्य में चीन का कोई उल्लेख नहीं किया।

पाकिस्तान से सम्बन्ध—पाकिस्तान के सम्बन्ध में प्रायः सभी पार्टियाँ सम्बन्धों को सामान्य बनाना चाहती हैं। परन्तु केवल संसोपा विपरीत दिशा में और आगे जाना चाहती है। वह कहती है कि भारत और पाकिस्तान के लोग एक ही राष्ट्र के हैं और *कृत्रिम विभाजन ने एक दूसरे को विदेशी बना दिया है। संसोपा को इस बात* से प्रसन्नता है कि गत चुनाव में जनतांत्रिक शक्तियों को काफी सफलता मिली है। जनसंघ ने 1967 के चुनाव घोषणा-पत्र में *कहा था कि उसे अंततोगत्वा 'भारत* और पाकिस्तान की एकता में विश्वास है और वह दोनों राज्यों को निकट लाने के प्रयास का स्वागत करेगा। जनसंघ ने 1972 के चुनाव घोषणा-पत्र में इस एकता का उल्लेख नहीं किया। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने भारत और पाकिस्तान के सम्बन्धों को सुधारने के सम्बन्ध में ताशकन्द घोषणा का उल्लेख किया है और उसने ताशकंद में सोवियत संघ की भूमिका के प्रति अप्रत्यक्ष रूप से आभार प्रकट किया है। परन्तु मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी ने जो संघ को पसंद नहीं करती सोवियत संघ का उल्लेख किये बिना भारत और पाकिस्तान के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध कायम करने की जोरदार अपील की है। जनसंघ ने अपने चुनाव घोषणा-पत्र में अपने को एक उग्र राष्ट्रीय पार्टी के रूप में प्रस्तुत किया है। वह चाहती है कि भारत स्वतन्त्र विदेश-नीति अपनाए। स्वतन्त्र पार्टी और पुरानी कांग्रेस की तरह वह श्रीमती इन्दिरा गाँधी पर यह आरोप लगाती हैं कि उसने भारत को सो. संघ की कठपुतली बना दिया है।

सोवियत संघ के प्रति रुख—नई कांग्रेस का सोवियत संघ के प्रति रुख मैत्री-पूर्ण व सद्‌भावनापूर्ण है। वह भारत रूस सम्बन्धों की घनिष्टता में विश्वास करती है। उसकी इसी नीति का परिणाम *'भारत-रूस मैत्री संधि है।'* जनसंघ ने भारतीय क्षेत्रों को चीनी क्षेत्र दिखाने वाले नक्शों के प्रकाशन, रेडियो प्रसारणों में भारतीय

पार्टियों और नेताओं की आलोचना करने और भारत के राष्ट्रपति के चुनाव में हस्तक्षेप के विरुद्ध सो. संघ की आलोचना की है। घोषणापत्र में कहा गया है कि जनसंघ कम्युनिष्ट देशों के साथ आयात-निर्यात व्यापार का राष्ट्रीयकरण कर लेगा।

केवल जनसंघ एवं प्रसोपा ऐसी पार्टियाँ है जो चाहती हैं कि भारत अणुबम बनाए। जनसंघ व स्वतंत्र पार्टी इससे सहमत है कि अरब देशों से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध कायम रखने के साथ-साथ इजराईल के साथ भी ऐसे ही सम्बन्ध कायम करने चाहिये।

परन्तु किसी भी पार्टी के चुनाव-प्रचार में विदेश-नीति के प्रश्न को नहीं उठाया। पुरानी कांग्रेसी, जनसंघ और स्वतन्त्र पार्टी नई कांग्रेस पर कम्युनिस्ट समर्थन पर आश्रित रहने और देश को तानाशाही की ओर ले जाने का आरोप लगाती है परन्तु कोई भी पार्टी किसी अन्य देश का नाम बीच में नही घसीटती। वह तभी ऐसा करेगी जब पाकिस्तान की तरह कोई देश भारत के हितो को चोट पहुँचाते हुए हस्तक्षेप करेगा।

प्रश्न 30—भारतीय राजनीति में व्याप्त उन दोषों की चर्चा कीजिये जिनसे कुलश प्रशासन और राष्ट्रीय एकता की प्राप्ति सम्भव नहीं हो पाती।

अथवा

"भारतीय राजनीति में चुनाव का आधार दलों का कार्यक्रम या उम्मीदवारों की योग्यता नहीं होता, वरन् जातिवाद, भाषावाद या क्षेत्रवाद होता है।" इस कथन की व्याख्या कीजिए।

अथवा

भाषावाद जातिवादी और क्षेत्रवाद भारतीय राजनीतिक जीवन के तीन कोढ़ हैं। इनके स्वरूप और इनसे निदान का तरीका बताइए।

उत्तर—जातिवाद—जाति भारत में एक ऐसी शक्तिशाली तत्व है। जिसने भारतीय राजनीति को विभिन्न रूपों में विभिन्न दृष्टिकोणों से आप्लावित कर रखा है। जातिवाद ने भारतीय राजनीति को जितना घेर रखा है उतना अन्यत्र नही दिखाई देता। पिछले पांच चुनावों का अनुभव यह बताता है कि जातीयता राजनीतिक क्षेत्र में पैर जमाती रही है। मतदान बहुत कुछ जाति के आधार पर होता है। सभी दलों के प्रचारक चाहे वे जातिवाद को कितना भी गलत बतावें, अपने दल के उम्मीदवारों के लिए जाति का उपयोग करने से नही हिचकते। चुनाव में खड़ा होने वाला प्रत्याशी प्रायः जातीय आधार पर अपील करता है। राजस्थान में यह कहावत सी प्रचलित हो गई है कि 'जाट की बेटी जाट को, जाट का वोट जाट को' अनेक बार चुनाव परिणाम जातीयता से प्रभावित रहे हैं। सरकार बनाते समय भी जातीयता को गौण नही समझा जाता क्योंकि बहुमत दल में भी जातीयता घुसी रहती है। जातीय हितों को प्रायः विशेष महत्व दिया जाता है और मंत्रियो के निर्णय अनेक बार जातीय

आधार पर लिए जाते हैं। जातीय आधार पर ही दलों का निर्माण किया जाता है। इसका ज्वलत उदाहरण तमिलनाडु का डी० म० के० दल है, जो तमिल जातियो का राजनीतिक सगठन है। पजाब मे अकाली दल भी जातिवाद से प्रभावित एक राजनीतिक श्रमिक दल है जो जातिवाद के उन्माद से प्रभावित होकर, भाषायी क्षेत्रवाद की आड़ में सिख राज्य की माँग करता रहा है। इस दल के कारण ही पंजाब का विभाजन हुआ है। वास्तव मे भारत की राजकीय नीति राजनीति जातिवाद से बड़ी प्रभावित है। कही पर सिक्खो का कही पर जाटो का, कहीं पर राजपूतो का, कही पर गैर ब्राह्मणो का, कही पर भूमिहरो का प्रभुत्व विशेष रूप से दिखाई देता है। दक्षिण के राज्यों मे जातिवादी और उत्तर के राज्यों की अपेक्षा अधिक सक्रिय रहा है।

राजनीति ही नही जातिवाद से आज भारतीय जीवन का प्रत्येक पहलू प्रभावित है। भारतीय मतदाता राजनीतिक समस्याओ पर बहुत कुछ जातीय दृष्टिकोण से सोचता है। 'जनता का राज्य जनता द्वारा तथा जनता के लिए' के स्थान पर अनेक दृष्टि से 'जाति का राज्य, जाति द्वारा तथा जाति के लिए' हो गई है। जातीय हितो को सर्वत्र महत्व दिया जाता है। जातीय आधार पर बनी हुई सरकार देश के हितों को ध्यान में रख कर जातीय हितो की वृद्धि के लिए क्रियाशील रहती है।

जातियाँ भी अपने आप में अनेक उपजातियों मे बंटी हुई हैं। यदि किसी निर्वाचन-क्षेत्र मे किमी जाति विशेष का बहुमत होता है तो प्रत्येक दल का यही प्रयास होता है उसी जाति का व्यक्ति उस क्षेत्र से चुनाव में खड़ा किया जाय। पिछले चुनावो मे पार्टियो ने उम्मीदवारो को टिकट इसी आधार पर दिए। व्यवस्थापिका मे जो दल-व्यवस्था होती है, उसमे भी दलों के अन्तर्गत जातीय गुट बन जाते है। राज्य के हितों को गौण समझा जाता है और जातीय गुटो मे सत्ता के लिए खुली होड़ लगी रहती है। राजनीति में जातीय प्रभाव लगभग कम या अधिक अंशों में सभी राज्यो मे मिलता है। जिला बोर्ड, नगरपालिकाओं एवं पचायतो के चुनावो में भी मतदान का आधार जातीयता ही होता है।

जिस प्रकार देश की राजनीति एवं प्रशासन में जातिवाद-व्यापक होता जा रहा है, उससे ऐसा लगता है जैसे लोकतन्त्रीय प्रसाद किसी दिन ताश के महल की तरह लड़खड़ा कर गिर जायेगा। प्रजातन्त्र को सबसे बडा खतरा है। जातिवाद से अनेकानेक विघटनकारी प्रवृत्तियाँ देश में सक्रिय हो रही है। इसलिए राजनीति से हमें जातिवाद हटा देना चाहिये। चुनावों मे जाति के नाम पर मत न डाले जायं। एक विद्वान् के अनुसार "चुनावो में जाति-निष्ठा दलीय भावना तथा दल की विचारधारा से पहले है।" कहने का अभिप्राय यह है कि भारत में समाज का जातीय आधार होने के कारण सम्पूर्ण राजनीति का भी आधार जातीय बन गया है जो लोकतन्त्रीय परम्पराओ के लिए घातक है।

2. भाषावाद—जातिवाद के साथ ही भाषावाद भी भारतीय-राजनीति के आधार रूप में रही है। स्वतंत्रता के बाद हमारे देश का भाषा के आधार पर पुनर्गठन किया गया। इस पुनर्गठन के बाद देश में जो दंगे हुये वे किसी भी सभ्य देश के लिये शर्म की बात हो सकती है। बम्बई मे गुजराती व मराठी दंगे हुए जिसमें सैकड़ो व्यक्ति मारे गये। तेलगू भाषा-भाषी क्षेत्र के लिये श्री रामलु ने उपवास किये। राष्ट्र-भाषा के प्रश्न को लेकर तामिलनाडु में जो दगे हुये उनसे यही लगता है कि राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से हम बहुत पिछड़े हुये है। और यदि भाषावाद, जातिवाद, संप्रदायवाद आदि अवांछित तत्वों पर काबू नही पाया गया तो भारत का राजनीतिक और प्रजातांत्रिक भविष्य अन्धकार में पड़ सकता है।

भाषा का विवाद वस्तुत: आरम्भ से ही भारतीय राजनीति का सिर दर्द रहा है। राष्ट्र-भाषा के प्रश्न को लेकर उत्तर-प्रदेश में अंग्रेजी विरोधी एव तमिलनाडु में हिन्दी-विरोधी आन्दोलन समय-समय पर अपना उग्र रूप धारण कर लेते है।

इस भाषा-आन्दोलन ने उत्तर-प्रदेश और दिल्ली में 'हिन्दी सेना' को जन्म दिया जिसने अंग्रेजी में लिखे तख्तों, सकेतो आदि को कोलतार से मिटाने, अंग्रेजी अखबारो के बहिष्कार करने, कांग्रेसी मन्त्रियों के घेराव करने आदि की दिशा में एक व्यापक आन्दोलन चलाया। अहिन्दी-भाषी राज्य भी इससे पीछे न रहे। हिन्दी-भाषी राज्यो का आन्दोलन ज्योंही समाप्त हुआ, अहिन्दी-भाषी राज्यों में हिन्दी के विरोध में आन्दोलन शुरू हो गया और सरकार द्वारा पारित राज्य-भाषा संशोधन विधेयक की भर्त्सना की जाने लगी। इस आन्दोलन का केन्द्र तमिलनाडु रहा और अन्नादुरै की सरकार का इसे पूरा समर्थन प्राप्त हुआ।

3. धर्म—भारतीय राजनीति के आधार के रूप मे धर्म भी एक शक्तिशाली तत्व के रूप मे रहा है। धर्म ने भारतीय राजनीति पर विपरीत प्रभाव डाला है। धर्मान्ध भावनाओं के कारण देश की राजनीतिक एकता पर भीषण आघात हुआ है। जो धर्म देश को एकता के बन्धन में बांधने वाली संयोजक शक्ति का काम कर सकते हैं वही आज विभेदक शक्ति के रूप में नजर आ रहे है। जिस धर्म के संकीर्ण और अनुदार रूप ने भारत का विभाजन करवाया है, वह आज भी सिर उठाता रहता है। धर्म के कारण भारत के विभिन्न क्षेत्रो में एक समुदाय का दूसरे समुदाय से, एक वर्ग का दूसरे वर्ग से और एक जाति का दूसरी जाति से मनमुटाव चलता रहता है। परिणामस्वरूप राजनैतिक वातावरण निरन्तर दूषित होता रहता है और अनेक गम्भीर राजनैतिक समस्याओं का मौके-बेमौके प्रादुर्भाव होता रहता है।

भारत मे धार्मिक मत-भेद राजनैतिक एकता और अस्वस्थ सामाजिक प्रतियोगिता के आधार बने हुये हैं। भारत की राजनीति का बहुत कुछ निर्धारण हिन्दू और मुसलमानो के धार्मिक मत-भेदों और तनावों से हुआ है।

धर्मान्धता ही वह विष-बीज था जिसने भारत का विभाजन किया। भारत में विभिन्न धर्मावलम्बी रहते हैं जिसके कारण वह विभिन्न रूपों में राजनीति का

आधार बना हुआ है। विभिन्न धर्मावलम्बी अपना-अपना राजनीतिक वर्चस्व जमाना चाहते हैं तथा एक दूसरे के प्रति असहिष्णुता की भावना रखते हैं। इसके अलावा ये अपना राजनीतिक अस्तित्व कायम रखना चाहते हैं। हिन्दू अधिकारी हिन्दू-धर्मावलम्बियों को मुस्लिम अधिकारी मुस्लिम धर्मावलम्बियों को संरक्षण देते हैं।

भारत में धर्म इतना प्रभावशाली तत्व बना हुआ है कि कतिपय राजनीतिक दलों का निर्माण भी वस्तुतः विशुद्ध धर्म के आधार पर हुआ है। द्रविड़ मुनेत्र कषगम तमिलनाडु में अब्राहमणों का दल है। पंजाब में अकाली दल सिखों के एक वर्ग का राजनीतिक धार्मिक दल है। यह दल भाषाई क्षेत्रवाद के छद्म वेष में धार्मिक साम्राज्यवाद का ज्वलन्त उदाहरण है। हिन्दू-महासभा, हिन्दू-राष्ट्र, हिन्दू-संस्कृति और हिन्दू-राजनीति की स्थापना करती है।

धर्म के आधार पर भारत में समय-समय पर राजनीतिक संघर्ष और विवाद होते रहे हैं। 1956 से 1960 के मध्य बम्बई नगर पर नियन्त्रण के लिए मराठी-गुजराती संघर्ष का जो दौर चला वह धार्मिक उग्रवादी राजनीति का ज्वलन्त प्रमाण है। भारत के एक सर्वाधिक शिक्षित राज्य केरल पर राजनीतिक प्रभुसत्ता के लिए हिन्दुओं, मुसलमानों और ईसाइयों में निरन्तर खींचा-तानी चलती रहती है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि राजनीति में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से धर्म आज भी अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहा है। यह धर्मान्धता की भावना भारतीय संसदीय लोकतन्त्र को खोखला कर रही है तथा राष्ट्रीय एकता को छिन्न-भिन्न कर रही है। राजनीति एवं धर्मान्धता के इस मेल ने भारतीय राजनीति को साम्प्रदायिक राजनीति बना रखा है।

क्षेत्रवाद—भारतीय राजनीति का एक अन्य आधार क्षेत्रवाद है। भारतीय आज भी अपने को भारतीय नागरिक न समझकर अपने को बंगाली, बिहारी, गुजराती, मद्रासी, राजस्थानी व पंजाबी समझते हैं। यद्यपि संविधान में एक नागरिकता की घोषणा की गई है तथापि प्रान्तीयता की भावना ने लोगों पर इस तरह कब्जा जमा रखा है कि वे प्रान्त के संकुचित हितों के लिए राष्ट्रीय भावना को पीछे धकेल देते हैं। उदाहरणार्थ—भाषा व राज्यों के पुनर्गठन के समय से ही मैसूर और महाराष्ट्र के बीच सीमा-विवाद देश की शांति को भंग करता आ रहा है।

पहाड़ी क्षेत्र भी क्षेत्रवाद के अखाड़े हैं। खासी, जयन्तियाँ, गारो, मिकिर, उत्तर कछार, मिजो, पहाड़ियों आदि में गैर असमियां कबीले रहते हैं। पूर्वी पहाड़ी क्षेत्र में क्षेत्रवाद की भावनाएँ उग्र हिंसक रूप ले चुकी हैं। भारतीय संविधान के अनुसार इन क्षेत्रों का प्रशासन जिला-परिषदों के अधीन होता है जिन्हें अधिकार दिया गया है कि वे खेती, स्थानीय प्रशासन और सामाजिक रीति-रिवाजों के बारे में कानून बनायें जब 1960 में असम भाषा-विवाद को लेकर दंगे हुए तो पहाड़ी क्षेत्रों के प्रतिनिधियों ने अलग पहाड़ी राज्य की माग उठा दी। 5 अक्टूबर 1963 को प्रतिनिधियों

ने स्वर्गीय श्री नेहरू से मुलाकात की। श्री नेहरू ने आश्वासन दिया कि पहाड़ी क्षेत्रों को असम के राज्य के अन्तर्गत पूर्ण स्वाधीनता दी जाएगी। इसके बाद भी पहाड़ी क्षेत्रों की मांग शान्त न हुई।

निष्कर्ष रूप मे कहा जा सकता है कि भारतीय राजनीति के उपर्युक्त आधार राजनीति को दूषित किए हुए हैं तथा भारतीय संसदीय लोकतन्त्र की सफलता के मार्ग में भीषण चट्टान के सदृश अड़े हुए है जिन्हें हटाए बिना भारत मे न तो संसदीय लोकतन्त्र सफल हो सकता है और न हो राष्ट्रीय एकता स्थापित हो सकती है। भारतीय राजनीति की प्रकृति इन आधारों के कारण अन्य देशों की अपेक्षा भिन्न प्रकार की हो गई है।

यह भी एक तथ्य है कि इन तत्वों को अशुद्ध रूप में उभारने के हथकण्डे आज के राजनीतिज्ञों के है। आज के राजनीतिज्ञ चुनाव जीतने के नाम पर कभी जातिवाद, कभी भाषावाद और कभी साम्प्रदायिकता एव प्रान्तीयता को उभारते है। आज देश में जो भाई-भतीजावाद बढ़ रहा है वह आज के राजनीतिज्ञों की उपज है।

इतना सब होते हुए भी भारतीय राजनीति में धर्म, जाति, प्रान्तीयता व भाषा का जो भाग है वह समूल रूप से नष्ट नही किया जा सकता क्योंकि ये चीजें भारतीय समाज में युगों से घर किए हुए हैं। भारतीय लोकतंत्र में दल होंगे, जातियां होंगी, विभिन्न धर्म होंगे लेकिन सबको अपने-अपने स्थान पर कायम रखते हुए भी राष्ट्रीय हितों के प्रश्नों पर सभी को एक दृष्टि से सोचना होगा। जैसे चुनाव आदि मे जहाँ तक हो सके जातिवाद, भाषावाद व क्षेत्रवाद का सहारा न ले तभी भारतीय राजनीति शुद्धिकरण की ओर उन्मुख होकर दूषित राजनीति का चोला छोड़ेगी।

प्रश्न 31—भारत की राष्ट्रीय एकता की समस्या पर प्रकाश डालिए। राष्ट्रीय एकीकरण के लिए जातिवाद, भाषावाद और प्रादेशिकतावाद कहाँ तक बाधक हैं?

अथवा

भारत में राष्ट्रीय एकीकरण की स्थापना कैसे की जा सकती है? इसके बाधक तत्वों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर—अर्थ व आवश्यकता—आजादी की सुरक्षा के लिए, देश की आर्थिक प्रगति के लिए तथा भारत के उज्ज्वल भविष्य के लिए यह आवश्यक है कि सम्पूर्ण भारत में राष्ट्रीय एवं भावनात्मक एकता की धारा प्रवाहित हो। राष्ट्रीय एवं भावनात्मक एकता के विकास मे आने वाली समस्त बाधाओं को दूर किया जाए। उन विघटनकारी और पृथक्तावादी ताकतों का विनाश किया जाए, जो भारत के अस्तित्व के लिए भय का कारण हैं। विघटनकारी एवं पृथक्तावादी प्रवृत्तियों को जाति तथा उपजाति, भाषात्मक विविधता, क्षेत्रीय भावना ... दावों आदि से पर्याप्त बल मिला है और देश अधिक विघटित होता गया है।

एस० हैरिसन ने यही निष्कर्ष निकाला है कि भारत में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद विघटनकारी शक्तियाँ निरन्तर प्रबल होती गई हैं। सम्पूर्ण देश भाषा, जाति, धर्म, प्रान्त और सम्प्रदायों के चक्र-व्यूह मे लिपटता चला गया। देश में विघटन की तीव्र हवाएँ चलने लगी हैं और शीघ्र ही यदि इन विनाशकारी हवाओं पर नियंत्रण नही किया गया तो ये हवाएँ प्रलयकारी आँधियों का रूप धारण कर लेंगी। तब हमारी आजादी का नन्हा पौधा उनके सम्मुख टिक न सकेगा।

राष्ट्रीय एकता कोई इमारत नही है जो ईंट और पत्थरों, चूने और पानी, लकड़ी और औजारों से खड़ी की जा सके, यह न कोई ऐसा तत्व है जिसे कानून के आधार पर स्थापित किया जा सके या राजनीतिक समझौतो से दृढ़ किया जा सके। सच्चे अर्थों में राष्ट्रीय एकता तो एक आन्तरिक प्रतिध्वनि है जिसमे लोगों के हृदयों और मस्तिष्कों मे बड़ी शांति के साथ विकसित करना होगा। इसके लिए हमे अपने हृदय व मस्तिष्क को विशाल दृष्टि को व्यापक और बुद्धि को सहिष्णु बनाना होगा। किसी संकटकाल में यदि हम सामयिक रूप से एक हो जाए तो सच्चे मायने मे एकता नहीं कही जा सकती। बाह्य दबाव से तो रेत के भी लड्डू बनाए जा सकते है लेकिन बाह्य दबाव जब तक है तब तक ही ऐसे लड्डू का आकार कायम रहेगा। दबाव हट जाने पर रेत तितर-बितर हो जाएगी। अतः हमे कष्ट, त्याग और बलिदान से अर्जित स्वतंत्रता को अक्षुण्ण बनाए रखना है। यदि एक मजबूत भारत तथा सफल भारतीय जनतन्त्र देखना है तो देश को राष्ट्रीय एकता के आधार पर एकसूत्रता में बाँधने के प्रयत्न करने ही होंगे। डा० राधाकृष्णन् ने कहा था, "हमारे देश को भय बाहर से नही भीतर से है। हमारे शत्रु हमसे दूर नही, बल्कि हममे और हमारे देश मे ही हैं। यदि हमें एक आधुनिक स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप मे विकास करना है तो हमे इनसे लड़ना होगा।"

राष्ट्रीय एकता के बाधक तत्व

भारत की राष्ट्रीय एकता में बाधक तत्व एक नही है वरन् अनेक है जो निम्नलिखित है:—

1. जातिवाद—जातिवाद समय-समय पर अपने वीभत्स रूप में प्रदर्शित करके देश की एकता को आघात पहुँचाता है। सामाजिक क्षेत्र में जाति सम्बन्धी भेदभाव कायम है। यद्यपि जाति का महत्व कम होता जा रहा है, परन्तु राजनीतिक अवसरवादिता को बढाने में इसका महत्वपूर्ण हाथ है। आज भी हमारे देश में मतदान जाति के आधार पर होते है। सभी दलो के प्रचारक अपने दलीय उम्मीदवारों के लिए जाति का उपयोग करने से नही हिचकते और प्रशासनिक अधिकारो मे भी यह प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है कि वे अपनी जाति को प्राथमिकता देते हैं।

2 भाषावाद—भाषा सम्बन्धी विविधता के कारण भी विघटनकारी शक्तियाँ प्रबल हुई हैं। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद इसी कारण भाषा पर आधारित प्रान्तो की

मांग शुरू हुई। नया महाराष्ट्र बन गया। पंजाबी सूबे की मांग अकाली करने लगे। भाषायी सम्बन्धी वाद-विवादों के कारण देश में भाषायी दंगे हुए जो कहीं-कहीं तो इतने लज्जास्पद रूप धारण कर गए कि एक सभ्य देश के लिए उसे शर्म की बात कहीं जानी चाहिए। देश स्वतन्त्र होने के बाद से ही भाषा के आधार पर अलग-अलग क्षेत्र निर्धारित करने वालों की संख्या बढ़ती गई। क्षेत्रीय भाषाओं को राज-भाषा हिन्दी के मुकाबले में अधिक प्राथमिकता दी जाने लगी है।

3. साम्प्रदायिक दल—साम्प्रदायिक दलों की दूषित नीति और घृणित प्रचार के ही कारण भारत का विभाजन हुआ। इन्हीं दलों की कृपा से विभाजन के समय दोनों देशों के बीच पाशविकता का नग्न-नृत्य हुआ। भारत-विभाजन के पश्चात् ऐसा लगने लगा कि साम्प्रदायिकता अपनी मौत मर जाएगी, किन्तु ऐसा नहीं हुआ। पंजाब ने भाषा की आड़ लेकर एक साम्प्रदायिक राज्य बनाने के स्वप्न देखे और उसके लिए आन्दोलन भी चला दिया। दूसरे सम्प्रदाय ने इसका विरोध किया। पंजाब साम्प्रदायिक तनाव का अखाड़ा बन गया। केरल में साम्प्रदायिक दल को पराजित करने के लिए कांग्रेस ने मुस्लिम लीग के गड़े मुर्दे में प्राण फूंके। मुस्लिम साम्प्रदायिकता सम्पूर्ण देश में सिर उठाने लगी। 'हिन्दू राष्ट्र' का नारा लगाने वाली संस्थाएँ 'हिन्दू' का अर्थ न समझकर हिन्दुओं का एक सम्प्रदाय बना बैठी हैं। भारत के ये दो सम्प्रदाय एक दूसरे के प्रति सहिष्णु नहीं हो पाए हैं। भारतीय मुसलमान आज तक प्राचीन भारतीय महापुरुषों के प्रति आस्था व्यक्त नहीं कर पाया है। कितने ही मुस्लिम आज भारत की अपेक्षा पाकिस्तान से अधिक सहानुभूति रखते हैं।

4. क्षेत्रीय भक्ति—क्षेत्रवाद और प्रान्तीयता की भावना ने लोगों पर इस तरह कब्जा जमा रखा है कि प्रान्त के संकुचित हितों के लिए राष्ट्रीय भावना को पीछे धकेल देते हैं। राजनीतिक क्षेत्र में भी इस क्षेत्रीय भक्ति की घुसपैठ कम नहीं है। चुनावों में क्षेत्रीय भक्ति खुलकर रंग लाती है। लोग भारत में अपने को भारतीय नागरिक न समझकर बंगाली, बिहारी, गुजराती, पंजाबी आदि समझते हैं।

5. धर्मान्धता—राष्ट्रीय एकता में धर्मान्धता भी एक बड़ी समस्या है। यद्यपि धर्म नैतिक-शक्ति प्रदान करता है किन्तु भारत में विभिन्न क्षेत्रों में धर्म का कुरूप स्वरूप विद्यमान है। आज भी भारत में हिन्दू-मुस्लिम समस्या अपना सिर उठाए हुए है। दोनों जातियों के लोगों की बड़ी संख्या में आज भी धार्मिक कट्टरता अपना कलुषित प्रभाव जमाए हुए है। एक धर्मावलम्बी अधिकारी अपने ही धर्म के मानने वालों को अधिकाधिक सहायता देता है। ये बातें राष्ट्रीय एकता को आघात पहुँचाती हैं।

6. निर्धनता व आर्थिक असमानता—निर्धनता एवं आर्थिक असमानता समाज में असंतोष को जन्म देती है। यह असंतोष समाज और सामाजिक व्यवस्था एवं शासन सभी के प्रति अविश्वास के भाव में वृद्धि करती है। इस से हिंसात्मक प्रवृत्तियों को बल मिलता है।

7. राजनैतिक दलों का नैतिक पतन—भारतीय राजनैतिक दल राष्ट्रीय हितों की अपेक्षा दलगत स्वार्थों को अधिक महत्व देते हैं। राजनैतिक दल स्वयं जातीयता, क्षेत्रीयता, व साम्प्रदायिकता को प्रश्रय देते हैं। वे जाति, धर्म, भाषा आदि के बल पर वोट जीतने का कोई अवसर हाथ से नही जाने देते। इससे राष्ट्रीय एकता मे व्यवधान पड़ता है।

8. समाचार-पत्रों की गलत नीति—देश के कितने ही समाचार-पत्रो ने ही राष्ट्रीय एकता के उद्देश्य को भुला दिया है। कितने ही पत्र तो जीवित ही जाति, संप्रदाय और क्षेत्रीय भावना के कारण हैं। इन भावनाओ को उभाड़कर अपना स्वार्थ सिद्ध करना–यही इन पत्रों का उद्देश्य रह गया है।

9. एक आदर्श का अभाव—समाज मे विघटनकारी तत्वो के सिर उठाने का महत्वपूर्ण कारण जनता के सामने एक आदर्श का अभाव है। बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध मे भारतीय जनता के समक्ष भारत की स्वतन्त्रता का सामान्य उद्देश्य था। देश का निर्माण एव विकास इसका विकल्प नही हो पाया है।

10. शासन की शिथिलता—शासन ने कभी राष्ट्रीय एकता के प्रश्न को महत्त्व नही दिया। शासक वर्ग जनता के सम्मुख अपने व्यवहार से किसी आदर्श की प्रतिष्ठा नही कर पाया। कौटिल्य व गांधीजी की रीति को, कि शासक वर्ग त्याग और बलिदान से जनता में आदर्श का निर्माण करे, शासन भूल गया।

11. सही शिक्षा का अभाव—शिक्षा-प्रणाली भी राष्ट्रीय एकता के न्यायालय में अपराधी है। देश मे जातियों, धर्मो, और सम्प्रदायों के नाम पर इन्ही के हित के लिए शिक्षा-संस्थाओ का दुरुपयोग होने लगा। विद्यालयों में अध्यापकों की नियुक्ति सम्प्रदाय के आधार पर होने लगी जिससे शिक्षण-संस्थाओ मे राष्ट्रीय एकता का वातावरण नही पनप सका।

12. शासकीय भाषा का प्रश्न—भारत मे सपूर्ण देश के लिए एक शासकीय भाषा का पूर्णतया अभाव है। शासकीय भाषा देश की जनता को एक सूत्र में बांधती है किन्तु दुर्भाग्य है कि हिन्दी भाषा अंग्रेजी का व अहिन्दी भाषी हिन्दी का पूरा विरोध करते हैं। इससे राष्ट्रीय एकता को बड़ा व्याघात लगता है।

राष्ट्रीय एकता के उपाय

निम्न उपायों के द्वारा राष्ट्रीय एकता कायम की जा सकती है—

1. सांप्रदायिकता को भावना न पनपने देना—साम्प्रदायिक भावना को नही पनपने देना चाहिए। यह आवश्यक है कि देश के सभी क्षेत्रों मे हिन्दू, मुसलमान और अन्य सम्प्रदाय के लोग साथ-साथ कार्य करें। प्रशासन के क्षेत्र में भी सेवाओं का अधिकाधिक लाभ उठाया जाय ताकि उनमें भारत के लिए कार्य करने की भावना बढ़े। पिछड़ी हुई जातियों और कबीलो को अधिकाधिक प्रोत्साहन दिया जाए क्योंकि एक पुरानी कहावत के अनुसार किसी भी चेन की शक्ति उसके सबसे कमजोर जोड़ में होती है।

2. विभिन्न प्रान्तों के बीच सांस्कृतिक आदान-प्रदान—राष्ट्रीय एकता के लिए विभिन्न प्रान्तों के बीच अधिकाधिक सांस्कृतिक आदान-प्रदान हो। हमें अपने देश की एकता के लिए क्षेत्रवाद की भावनाओं को मिटाने के लिए चाहिए कि हम एक दूसरे को अपने-अपने मेलो, त्यौहारो और यथा-सभव अपने धार्मिक व्यवहारो पर आमत्रित करे। इसके अतिरिक्त देश भर मे ऐसे अध्ययन केन्द्र स्थापित किए जाए जहा निष्पक्ष रूप से सामाजिक रीति-रिवाजो और सस्थाओ के अध्ययन की व्यवस्था हो।

3 धार्मिक सहिष्णुता का विकास—जब तक देश मे धार्मिक सहिष्णुता का विकास नही होगा, तब तक धार्मिक कट्टरता तो बनी रहेगी और धर्मान्धता देश की एकता मे बाधक बनी रहेगी। यह भी आवश्यक है कि धार्मिक नामो को लेकर चलाने वाली सस्थाओं को समाप्त कर दिया जाए। इस बात पर प्रत्येक संभव प्रयत्न करने चाहिए कि धार्मिक अल्प-सख्यकों में सुरक्षा और संतोष की भावना बनी रहे।

4. शिक्षा-क्षेत्र में सुधार—शिक्षा-क्षेत्र मे सुधार के लिए आवश्यक है कि वे सभी विद्यालय जहाँ पर किसी भी प्रकार का साम्प्रदायिक वातावरण स्थापित हो रहा हो वहाँ विद्यालय मे राष्ट्रीय प्रार्थना, एकता, का सचार करने वाली सभा, एक वेश-भूषा तथा भारतीय संस्कृति का गौरव दर्शाने वाले सास्कृतिक कार्यक्रम अवश्य होने चाहिएं। योग्य एव चरित्रवान् अध्यापको की नियुक्ति की जानी चाहिए तथा शिक्षा के क्षेत्र को राजनीति से दूर रखा जाना चाहिए।

5. आर्थिक प्रगति व असमानता की समाप्ति—पिछड़े एव निर्धन वर्ग मे व्याप्त असतोष को समाप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि अधिक से अधिक आर्थिक समानता की स्थापना की जाए एवं आर्थिक क्षेत्र मे प्रगति की जाए। जब तक इन्सान और इन्सान के बीच धन की दीवार गिरा नही दी जाती तब तक हमारा समाज बहुत खोखला है।

6. प्रशासको द्वारा एक आदर्श की स्थापना—प्रशासको को जनता के सम्मुख त्याग, बलिदान, चरित्र एव ईमानदारी का आदर्श प्रस्तुत करना चाहिए। वे अपना ध्येय जनता की सेवा बनाएँ तथा चुनाव मे चाहे उनकी विजय हो, चाहे पराजय, वे जातिवाद, संप्रदायवाद, प्रान्तीयता आदि का सहारा न लें।

7. आचार-संहिता—राजनैतिक दलो, नेताओं, समाचार-पत्रो तथा विद्यार्थियों के लिए आचार-संहिता का निर्धारण किया जाए। न केवल आचार-सहिता का निर्धारण किया जाए, अपितु यह भी देखा जाए कि उस आचार-सहिता का पालन हो।

8. भाषा-समस्या का समधान—भाषा-समस्या के समाधान से राष्ट्रीय एकता के मार्ग की बहुत बड़ी बाधा समाप्त हो जाएगी। हिन्दी तथा अंग्रेजी का ज्ञान क्रमश: राष्ट्रीय तथा अन्तराष्ट्रीय भाषा के रूप मे प्राप्त किया जाय तथा अहिन्दी भाषी क्षेत्र हिन्दी के अतिरिक्त किसी अन्य भारतीय भाषा का ज्ञान अवश्य उपलब्ध करें। सभी भारती

भाषाओं की लिपि देव नागरी हो। इसके लिए योजना-बद्ध रूप से कार्य प्रारम्भ किया जाए।

निष्कर्ष रूप में यह कहना होगा कि भारत की राष्ट्रीय एकता के लिए समाज की भावनात्मक समृद्धि के लिए यह आवश्यक है कि हम प्रेम, सहानुभूति और सद्भावनाओं के द्वारा वैर-विरोध के कारणों का नाश करें। हम उदार मनोवृत्तियों को अपनाएं और अपनी पर्यवेक्षण-शक्ति को न गवाएं। हम विभक्त करने वाली प्रवृत्तियों का दमन करें और सदियों की गुलामी के बाद प्राप्त हुई स्वतन्त्रता तथा अपने आर्थिक व सामाजिक पुनरुत्थान के अवसर न खोवें।

प्रश्न 32—भारतीय प्रजातान्त्रिक व्यवस्था के सबल और निर्बल तत्वों की व्याख्या कीजिए। यह कहाँ तक सफल हुई है?

अथवा

भारत की जनतान्त्रिक व्यवस्था में क्या कमियां हैं? इन कमियों को कैसे दूर किया जा सकता है?

अथवा

विश्व में भारत सबसे बड़ा जनतन्त्रीय देश है। क्या यहाँ जनतन्त्रीय पद्धति सफल हुई है? यदि नहीं तो क्यों?

उत्तर—बाह्य परिस्थितियां—भारत के सभी पड़ोसी देशों के जनतन्त्र के असफल होने, एक-एक कर एशिया के नवोदित राष्ट्रों के अधिनायकतन्त्र की गोद में जाने, बाह्य एवं आन्तरिक दोनों क्षेत्रों से साम्यवाद के बढ़ते हुए संकट, राष्ट्रीय सुरक्षा से सम्बन्धित आपत्तकालीन परिस्थिति तथा देश में उत्तरोत्तर बढ़ती हुई महंगाई और भ्रष्टाचार ने इस प्रश्न को उद्वेलित किया है कि क्या भारत में प्रजातन्त्र का पौधा पल्लवित होता रहेगा। चीन, हिन्देशिया, बर्मा, नेपाल, पाकिस्तान आदि सभी एशिया के देशों में प्रजातन्त्र के शव पर तानाशाही की जिस अट्टालिका का निर्माण किया गया, उसकी कहानी क्या भारत में भी दोहराई जाएगी? क्या भारत में भी प्रजातन्त्र का प्रयोग असफल हो जायेगा? प्रश्न का महत्व भारत की दृष्टि से तो है ही, परन्तु संसार की से भी है। संसार में द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् लगभग 50 नये राष्ट्रों ने जन्म लिया। ये सभी राष्ट्र बड़ी उत्सुकता से भारत में हो रहे प्रजातन्त्र के प्रयोग को देख रहे हैं। यदि भारत में प्रजातन्त्र का प्रयोग असफल हुआ तो इन नए राष्ट्रों का प्रजातन्त्र पर से विश्वास उठ जाएगा। तथा वे किसी भी प्रकार के अधिनायकवाद के चंगुल में फँस जाएंगे। चाहे वे स्वयं का दिल बहलाने के लिए या संसार को धोखा देने के लिए अपनी शासन-प्रणाली को Guided Democracy या Basic Democracy कहें।

भारतीय जनतन्त्र के बारे में दो मत—वास्तव में, भारत में प्रजातन्त्र का भविष्य क्या है, इस विषय में दो प्रकार के मत हैं: एक ओर तो आशावादी हैं जो कहते हैं कि भारत में प्रजातन्त्र उत्तरोत्तर विकास की सीढ़ियों पर चढ़ता जा रहा है।

उनका तर्क है कि भारत में पाँच आम चुनाव हो चुके हैं, जो इस बात का प्रमाण हैं कि प्रजातन्त्र के प्रति जनता की कितनी आस्था है। भारत मे पंचायत-राज योजना के अन्तर्गत राजनैतिक शक्तियों का विकेन्द्रीकरण कर देश के गावों मे प्रजातन्त्र की लहर दौड़ाई जा रही है। क्या यह सब सिद्ध नही करता कि भारत मे प्रजातन्त्र की जड़े जमती जा रही हैं। इस प्रकार इस बात का भविष्य उज्ज्वल है।

परन्तु दूसरी ओर कितने ही विद्वान् भारत मे प्रजातन्त्र के भविष्य के बारे मे चिन्तित है। संसद-सदस्य एच० वी० कामथ का मत है—"हमारे देश एव एशिया मे अन्यत्र वर्तमान प्रवृत्ति से ऐसा लगता है कि ससदात्मक सस्थाए पतन की ओर जा रही है। मुझे ऐसा अनुभव हो रहा है कि आठवी दशाब्दी तक, यदि उससे पहले नही, संसदीय शासन-प्रणाली तो रह सकती है, परन्तु उसकी आत्मा समाप्त हो जाएगी।" श्री वी० पी० मेनन ने कहा—"10 वर्ष के कार्यकाल के बावजूद अभी भी नेहरू के बाद कौन ? यह पुकार सुनाई पड़ी। यह अकेला तथ्य इस बात का प्रमाण है कि प्रजातन्त्र अभी तक सफल नही हुआ है। यदि प्रजातन्त्र स्वस्थ और मजबूत हो तो लोग यह प्रश्न नहीं पूछेंगे।"

भारतीय ससदीय जनतन्त्र में निम्नलिखित कमियाँ है—

1. सशक्त विरोधी दल का अभाव—ससदीय लोकतन्त्र की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि देश में सशक्त विरोधी दल विद्यमान हो ताकि सत्तारुढ़ दल अपने कर्त्तव्यों के प्रति उदासीन रहकर जनता मे शासन-व्यवस्था के प्रति विक्षोभ पैदा न करे। दुर्भाग्यवश भारत मे स्वतन्त्रता के 23 वर्ष बाद भी आज कोई सशक्त विरोधी दल नहीं है। सशक्त विरोधी दल के न होने से ही अब तक सत्तारुढ़ कांग्रेस दल अपने कर्त्तव्यों के प्रति एक बड़ी सीमा तक उदासीन रहा है।

किसी भी देश मे प्रजातन्त्र की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि वहाँ एक सशक्त विरोधी दल हो जो आवश्यकता पड़ने पर सत्ताधारी दल का स्थान ग्रहण कर सके। एक सशक्त विरोध दल दल के अभाव में सत्ताधारी दल पर कोई अंकुश नही रहने से वह निष्क्रिय भ्रष्ट एव अनुत्तरदायी हो जाता है। वास्तव मे यह अत्यन्त चिन्ता का विषय है कि 23 वर्ष पश्चात् भी देश मे सशक्त विरोधी दल के उभरने के संकेत नही मिले हैं। पाँचवें आम चुनाव ने भी इस चिन्ता को और बढ़ा दिया है।

भारत मे लोकतन्त्र के प्रति आस्था इसलिए भी घटने लगी है कि एक तो देश मे पहले से ही बहुत अधिक राजनैतिक दल हैं और दूसरे फिर भी दल बरसाती मेढकों की भाँति संख्या मे बढ़ते चले आ रहे हैं। राजनीतिक दलों को इस बरसात से देश मे विघटनकारी तत्वों को बल मिला है और अपनी-अपनी डफली, अपना-अपना राग' जैसी अवस्था पैदा हो गई है।

2. निरक्षरता एवं दोषपूर्ण शिक्षा-पद्धति—प्रजातन्त्र की सफलता के लिए आवश्यक है कि वहाँ की जनता शिक्षित हो। प्रजातन्त्र की नीव इसी आधार

टिकी हुई है । आवश्यक है कि प्रजातन्त्र की नींव दृढ हो—इसीलिए सफल प्रजातन्त्र के लिए यह आवश्यक है कि जनता सुशिक्षित हो । सरकार के अनेक वर्षों के अकथनीय परिश्रम के बावजूद भारत में केवल 20 प्रतिशत व्यक्ति ऐसे हैं जो लिखना और पढ़ना जानते हैं । जब तक कि भारतीय नागरिक शिक्षित न हो जायें, उनमें उच्च कोटि की राजनैतिक जाग्रति न उत्पन्न हो जाये और वे नागरिकों के उत्तरदायित्व व अपने अधिकारों को सही रूप मे न समझने लगे तब तक उन्हें कपटपूर्ण मिथ्या प्रचार द्वारा गुमराह किये जाने की सम्भावना बनी रहेगी । हमारी शिक्षा-पद्धति भी पतित अवस्था मे है । हमारे पड़ोसी देश पाकिस्तान मे प्रजातन्त्र की असफलता का एक महत्त्वपूर्ण कारण वहाँ की जनता का अशिक्षित होना था ।

3. **राष्ट्रीय एकता का अभाव**—राष्ट्रीय एकता के अभाव मे प्रजातन्त्र तो क्या कोई भी शासन-प्रणाली नही टिक सकती । परन्तु प्रजातन्त्र तो विशेष रूप से राष्ट्रीय एकता की माँग करता है । भारत में राष्ट्रीय एकता की आवश्यकता इसलिये भी अत्यधिक है कि यहाँ प्रजातन्त्र अभी तक शैशवावस्था में है । किन्तु भारत मे स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद विघटनकारी प्रवृत्तियाँ बढ़ती जा रही हैं । चारों ओर से शिशु प्रजातन्त्र पर विघटनकारी दानव आक्रमण करना चाहते हैं । स्वतन्त्रता-संग्राम के दिनों मे भारत में राष्ट्रीय एकता की जो लहर व्याप्त थी, आज वह ढूंडे से भी नही मिलती है । जातिवाद, भाषावाद, धर्मान्धता, क्षेत्रवाद व साम्प्रदायिक भावना के कीड़े भारतीय राष्ट्रीय एकता रूपी वृक्ष की जड़ को कुतर रहे हैं । प्रजातन्त्र में समानता व भ्रातृत्व का नारा भारत मे भाई-भतीजावाद के नारे के अन्दर दब गया है । जातिगत हित के लिए राष्ट्रीय हित का बलिदान किया जा रहा है । इस प्रकार प्रान्तीयता, जातीयता, भाषा-विवाद भारतीय जनतन्त्र को चुनौती दे रहे हैं, इनकी चुनौती स्वीकार न करने से प्रजातन्त्र को भीषण आघात लगने का भय है ।

4 **आर्थिक असमानता**—प्रजातन्त्र की सफलता के लिये आर्थिक समानता होनी अत्यन्त आवश्यक है । भारत की जनता गरीब, दलित व अर्ध-विकसित है, वहाँ प्रजातन्त्र नही टिक सकता । इस प्रकार कोई भी देश, जहा इन्सान और इन्सान के बीच आर्थिक असमानता की खाई गहरी हो, क्रान्ति का आह्वान करता है । लास्की के अनुसार आर्थिक समानता के बिना राजनैतिक स्वतन्त्रता व प्रजातन्त्र एक ढोंग है, वह अपूर्ण है । इस दृष्टि से यदि भारत की आर्थिक परिस्थितियों का अध्ययन करें तो एक बार फिर निराशा ही हाथ लगेगी । आचार्य कृपलानी के शब्दो में "मेरे दिमाग के अनुसार भारत मे प्रजातन्त्र को सबसे बड़ा खतरा जन-साधारण की गरीबी और व्यापक बेरोजगारी से है ।"

आर्थिक दृष्टि से भी देश की वर्तमान परिस्थितियां एक भारी असन्तोष को जन्म देती हैं । इस असन्तोष मे एक क्रान्ति के आह्वान के लक्षण दिखाई देते है । वह क्रान्ति प्रजातन्त्र के विरुद्ध भी हो सकती है और साम्यवाद व फासीवाद के समर्थन मे भी ।

5. व्यक्तिगत चरित्र एवं सामाजिक नैतिकता—प्रजातन्त्र की सबसे बड़ी दुर्बलता सामाजिक अनैतिकता तथा राष्ट्रीय चरित्र का अभाव है। किन्तु दुर्भाग्यवश भारत में अनैतिकता, चरित्रहीनता और भ्रष्टाचार चरम सीमा पर पहुँच चुके हैं। भ्रष्टाचार प्रशासन के सब अंगों तथा समाज के सभी क्षेत्रों में प्रवेश कर प्रजातन्त्र की जड़ों पर प्रहार कर रहा है। सामाजिक अनैतिकता के कारण समाज में खुले आम रिश्वत चोरी व काला बाजारी का बोलबाला है। राष्ट्रीय धन की और राष्ट्रीय चरित्र की चिन्ता किये बगैर चारों ओर धन-लोलुपता की होड़ लगी है। भौतिकवाद का शिकार होकर मिट्टी का पुतला यह इन्सान अपने स्वार्थों के कारण राष्ट्रीय-हित पर वज्रपात करता जा रहा है।

व्यक्तिगत चरित्रहीनता, सामाजिक अनैतिकता तथा दलगत स्वार्थ हमें सामाजिक दृष्टि से एक अराजकता की ओर अग्रसर कर रहे हैं। हम अनजाने ही उस अवस्था की ओर बढ़े चले जा रहे हैं, जो किसी राष्ट्र की मौत का सन्देश हो सकती है। संसद-सदस्य श्री कामथ ने 28 मार्च 1963 को लोक-सभा में बोलते हुए ठीक ही कहा कि 'यदि शीघ्र ही इस भ्रष्टाचार को रोकने के प्रयत्न न किये गये तो भारत में प्रजातंत्र की वही दशा होगी, जो चीन में च्यांग काई शेक की हुई।'

शासन के प्रति असंतोष—स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद जनता ने जो बड़ी-बड़ी आशाएँ की, वे दुर्भाग्यवश पूरी नहीं हो सकी हैं। जनता के बहुत से वर्गों में निराशा बढ़ी है। नव स्वतन्त्र भारत के सामने जो विभिन्न राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक समस्याएँ उपस्थित होती रही हैं, उन्होंने जनता में संसदीय लोकतन्त्र की सफलता के प्रति निराशा में वृद्धि की है।

शासन के प्रति अविश्वास—आज आम जनता को सरकारी अधिकारियों की सच्चाई और ईमानदारी में विश्वास नहीं है। अविश्वास की परिधि में अफसर, मन्त्रिगण, विधायकगण सभी आ जाते हैं। जनता इन में सच्चाई और ईमानदारी का अभाव पाती है। भ्रष्टाचार कार्य निबटाने में विलम्ब आदि से जनता परेशान है और शासन के प्रति जनता के विश्वास की नींव हिल सी रही है।

नेताओं व जनता के बीच सम्पर्क का अभाव—भारत के संसदीय लोकतन्त्र सफलता में इसलिए भी विश्वास नहीं जम रहा है कि नेताओं और जनता के बीच सीधे सम्पर्क का अभाव सा है। संकटों, बाधाओं और परेशानियों का जनता को सामना करना पड़ रहा है और उसे अपनी शिकायत-अपने नेताओं से करने का सामान्यतया अवसर नहीं मिलता। जनता यह महसूस कर रही है कि नेता अपने कर्त्तव्यों को भूल गये हैं और जनता के प्रति उपेक्षा-भाव रखे हुए हैं। जब जनता ही स्वयं को उपेक्षित महसूस करती है तो शासन-व्यवस्था के प्रति उसके अर्थात् देश में संसदीय लोकतंत्र के प्रति उसके विश्वास में कमी आ जाना स्वाभाविक है।

भारतीय जनतन्त्र की उपयुक्त कमियो ने यह सोचने के लिए विवश कर दिया है कि भारत ने एक विशाल स्तर पर जनतन्त्र का प्रयोग किया है तथा यह दावा करना मूर्खतापूर्ण होगा कि भारत मे जनतंत्र का भविष्य सुरक्षित है और यह हमारी सामाजिक व राजनैतिक बुराइयों को दूर करने मे सफल होगा।

(E) भारतीय राजनीति का वर्तमान स्वरूप

प्रश्न 33—"कांग्रेस-विभाजन सैद्धान्तिक न होकर सत्ता के लिए संघर्ष था" इस कथन की विवेचना कीजिए।

अथवा

प्रधानमन्त्री श्रीमती गांधी का उभरता व्यक्तित्व ही कांग्रेस-विभाजन का मुख्य कारण था। श्रीमती गाधी की भारतीय राजनीति में क्या भूमिका है ?

उत्तर—प्रारम्भ—अर्नाल्ड टायनबी ने अपनी पुस्तक 'East and West' मे इस सत्य का उद्घाटन किया कि ब्रिटिश सत्ता की समाप्ति के उपरान्त भारत मे सत्ता का संघर्ष उसी भाँति शुरू हुआ जिस भाँति मुगल-साम्राज्य के पतन के बाद हुआ। 20 वर्षों का कांग्रेसी एकाधिकार अपने अस्तित्व के सकट से गुजर चुका है। सत्ता का सघर्ष कांग्रेस के भीतर भी विद्यमान है। बगलौर अधिवेशन मे नेतृत्व और स्वार्थों का जैसा सघर्ष हुआ वैसा भारतीय इतिहास मे देखने को नही मिलता।

राष्ट्रपति का चुनाव और कांग्रेस में फूट—कांग्रेस ससदीय दल ने जब राष्ट्रपति पद के लिए श्री नीलम सजीव रेड्डी का नाम प्रस्तावित किया था तबसे ही कांग्रेस का विभाजन प्रारम्भ हो गया था। केन्द्र एव राज्य मे कांग्रेस का बहुमत कम हो जाने के कारण राष्ट्रपति अत्यधिक शक्तिशाली हो गया था इसलिए सिंडीकेट के तीन कर्णधारों—निजलिंगप्पा, कामराज व पाटिल ने निश्चय किया कि वे प्रधान-मंत्री का इच्छित राष्ट्रपति नही बनने देंगे। अन्त में राष्ट्रपति का चुनाव कांग्रेस के दो भीतरी गुटो के अस्तित्व का झगड़ा बन गया।

सिण्डीकेट की भावी योजना—सिण्डीकेट ने अपना मनोवांछित उम्मीदवार घोषित कर सोचा कि श्रीमती गाधी का राजनैतिक जीवन समाप्त हो गया है। सिंडी-केट ने भीतर ही भीतर अगले प्रधान मन्त्री का भी फैसला कर लिया। परन्तु श्रीमती गाधी ने अपनी सत्ता के प्रयोग द्वारा इस हवाई योजना को विफल कर दिया। मोरार जी देसाई को वित्त-मंत्रालय से अलग कर प्रधानमन्त्री ने सिण्डीकेट के विरुद्ध लड़ाई छेड़ दी। सिण्डीकेट के सदस्यों ने श्रीमती गाधी से बहुत प्रार्थना की कि मोरार जी को पुन: वित्त मंत्रालय दे दिया जाय। पर श्रीमती गाधी ने मोरारजी से उपप्रधान मन्त्री बने रहने को कहा जो उन्होंने अपनी प्रतिष्ठा बनाने के लिए अस्वीकार कर दिया।

बैंकों का राष्ट्रीयकरण—19 जुलाई 1969 को श्रीमतीगाधी द्वारा 14 बैंकों के राष्ट्रीयकरण की घोषणा सिण्डीकेट पर वज्र की तरह गिरा। इन जनतांत्रिक

निर्णयों द्वारा श्रीमती गांधी ने राजनीति की दुनियां मे अपना अद्वितीय स्थान बना लिया। सत्ता संघर्ष का वर्णन दिनमान मे इस प्रकार किया गया है "अगस्त भारतीय राजनीति का सबसे महत्वपूर्ण महीना है। अगस्त से ही भारत को स्वाधीनता प्राप्त हुई थी। अगस्त मे ही कांग्रेस के दोनो शिविरो ने एक दूसरे के लिए कांग्रेस छोड़ो की ऐतिहासिक घोषणा की। राष्ट्रपति के चुनाव ने कांग्रेस पार्टी के एक भीतरी विभाजन को एक सैद्धान्तिक आधार दे दिया। राजनैतिक व्याख्याकारों के अनुसार बैंको का राष्ट्रीयकरण इस आधार की पहली कड़ी है। यह सही है कि कांग्रेस दल के दोनों शिविर अब तक सिद्धान्त रहित आधारो पर चल रहे है। सत्ता के संघर्ष ने उनको वहाँ पर ला पटका जहाँ कि उनके पास अपने संघर्ष को राजनैतिक अर्थ देने तथा अपनी आकांक्षा को विचारधारा से जोडने के अलावा कोई रास्ता नही रह गया। वास्तविकता यह है कि केन्द्र मे मिली-जुली सरकार की राजनीति ने 1969 मे जन्म लिया है।

स्वतन्त्र मतदान की मांग, गिरि की जीत—श्रीमती गांधी ने राष्ट्रपति चुनाव में स्वतन्त्र मतदान की मांग की और इसलिये ही उन्होने Party-Whips जारी करने को मना कर दिया। फल यह निकला 17 राज्यो मे से 11 राज्यों ने श्री वी० वी० गिरि को मत दिया। यह श्रीमती गांधी की सिण्डीकेट पर एक और विजय थी। ब्रिटिश पत्र इकॉनोमिस्ट ने लिखा कि "सत्ता के लिए जारी वर्तमान संघर्ष मे श्रीमती गांधी ने 75 वर्ष के श्री गिरि को भारत के राष्ट्रपति पद पर विजयी बनाकर अपने विरोधियों पर विजय प्राप्त कर ली है।" इस पर पाटिल व मोरार जी ने बदला लेने के लिए श्रीमती गांधी को नेता पद से हटाने की धमकी दी पर असफल रहे। अब यह झगड़ा सत्ता के स्थान पर संस्था के नेतृत्व का हो गया। निजलिंगप्पा ने मंत्रि-परिषद् मे अपनी टांग अड़ानी चाही पर श्रीमती गांधी ने कहा कि इच्छानुसार मंत्रिपरिषद् बनाने का अधिकार मंत्री का है।

राज्यों में कांग्रेस में फूट—केन्द्र की इस फूट का असर राज्यो पर भी पड़ा। यू० पी० में सी० बी० गुप्त का नेतृत्व संकट मे पड गया जिससे चरणसिंह की सरकार बनी। एम० पी० में श्यामाचरण शुक्ल तथा द्वारिका प्रसाद मिश्र का विरोध उग्र हो गया, बंगाल एवं बिहार भी इससे अछूते न रहे। राज्यों में भी कांग्रेस का विभाजन हो गया। सिण्डीकेट ने राज्यों मे श्रीमती गांधी के समर्थको को हटाना प्रारम्भ किया। सी० सुब्रमण्यम् को कार्यकारिणी समिति से, कमलापति त्रिपाठी को यू० पी० कांग्रेस के अध्यक्ष पद से तथा वेंकटारमण को आन्ध्रप्रदेश कांग्रेस अध्यक्ष पद से दूर किया। इसके जवाब में श्रीमती गांधी ने चार कनिष्ट मंत्रियों—एम० एस० गुरुपद स्वामी, परिमल घोष, जगन्नाथ पहाड़िया और जे० बी० मधुलराव—को पद त्यागने को कहा।

महासमिति के अधिवेशन व कार्यकारिणी समिति में परिवर्तन—[illegible] गांधी के समर्थकों ने महासमिति का अधिवेशन बुलाने का निश्चय किया।

निजलिंगप्पा के अध्यक्ष पद को खतरा उत्पन्न हुआ और पुनः अध्यक्ष बनने की सम्भावना समाप्त सी हो गई। 25 अगस्त को श्रीमती गांधी के पक्ष में प्रदेश शाखाओं ने एकता प्रस्ताव पारित किया। हरियाणा, यू.पी., बिहार, आसाम, महाराष्ट्र आन्ध्रप्रदेश, जम्मू एवं कश्मीर में इन्दिरा के समर्थकों का बहुमत था। उड़ीसा कांग्रेस, और राजस्थान व मोहनलाल सुखाड़िया भी हस्ताक्षर अभियान में प्रधान-मंत्री का साथ देने को तैयार थे पर कार्यकारिणी समिति ने इसे अस्वीकार कर दिया। 21 नवम्बर को कांग्रेस कार्यकारिणी समिति के 11 सदस्यों ने श्रीमती गांधी को कांग्रेस सदस्य से निष्कासित करने की घोषणा कर दी। कांग्रेस संसदीय-दल की बैठक में डा० रामसुभगसिंह को लोकसभा और श्यामनन्दन मिश्र को राज्य-सभा का नेता चुना व इसाई को संसदीय-दल की अध्यक्षता सौंपी। कांग्रेस के इस वर्ग ने अन्तिम में मोरे के बावजूद भी राष्ट्रपति को सूचित किया कि श्रीमती गांधी को नेता पद से हटा दिया गया है। परन्तु दिल्ली में हुआ श्रीमती गांधी के समर्थक कांग्रेस-अधिवेशन में उनके प्रभाव का पता चल गया। इसमें सुब्रह्मण्यम को निजलिंगप्पा के स्थान पर कांग्रेस का प्रधान बनाया गया। कार्यकारिणी समिति में उन 9 सदस्यों को शामिल कर लिया गया। जिन्हें निजलिंगप्पा ने हटाया था। जगजीवन राम को कांग्रेस का नया अध्यक्ष चुना गया। तत्पश्चात् दोनों ओर से प्रदेशों में कांग्रेस-समितियों व सदस्यों को सुसंगत करने का क्रम चला।

अधिवेशनों में परस्पर आलोचना—20 दिसम्बर से अहमदाबाद के पास गांधीनगर में कांग्रेस (संगठन-गुट) का अधिवेशन हुआ जिसमें श्रीमती गांधी को सरकार चलाने के अयोग्य और रूस प्रेमी बताया गया। सत्तारूढ़ कांग्रेस ने भी दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह में बम्बई में अधिवेशन बुलाया जिसमें कोई नई नीति की घोषणा नहीं की गई। प्रधान-मन्त्री अभी अपनी शक्ति के बारे में आश्वस्त नहीं थी अत. मध्यावधि चुनाव की घोषणा की गई। दोनों कांग्रेसी-पक्ष कांग्रेस का पुराना चुनाव-चिह्न प्राप्त करना चाहते थे। दोनों ने अपने-अपने पक्ष में तर्क दिये। नई कांग्रेस ने गाय-बछड़े के चुनाव चिह्न द्वारा जब बहुमत प्राप्त कर लिया तो पहले वाला चुनाव-चिह्न मिलने पर भी अब अपना नया चुनाव-चिह्न ही रहने दिया। मध्यावधि चुनाव तथा प्रान्तों में हुए विधान-सभाओं के चुनावों में नई कांग्रेस ने ही सफलता पाई। इस प्रकार कांग्रेस-विभाजन के सिद्धान्तों की टकराहट न होकर व्यक्तित्व व नेतृत्व का संघर्ष था।

मूल्यांकन—निष्पक्ष रूप से देखा जाये तो कांग्रेस-विभाजन विचारधारा एवं व्यक्तित्व दोनों का संघर्ष था। एक ओर समाजवाद को शीघ्र लाने का जोश था तो दूसरी ओर दक्षिण पंथी इसमें बाधक थे। एक ओर श्रीमती गांधी के अस्तित्व का प्रश्न था तो दूसरी ओर मोरार जी के अस्तित्व का। विदेशी-पत्रों ने इसे वामपंथी और दक्षिण पंथी विचार-धाराओं का संघर्ष कहा। श्रीमती गांधी ने भारतीय

राजनीति के इतिहास को एक अपूर्व मोड़ दिया । अब देश की शासन-सत्ता नई कांग्रेस के हाथों में है । स्वतन्त्र बांगला देश को पाक आतंक से बचाकर और भारत-पाक युद्ध मे श्रीमती गांधी ने देश को सुदृढ नेतृत्व देकर सफलता दिलवाई । भुट्टो के साथ शिमला मे हुई शिखर वार्ता मे भी प्रधानमन्त्री ने देश के उच्च आदर्शों को विश्व के सामने रखा ।

प्रश्न 34—लोक-सभा के मध्यावधि चुनाव भारतीय इतिहास में एक अनूठी घटना क्यों कर है ?

अथवा

भारत में मध्यावधि चुनाव के कारणों पर प्रकाश डालिए ।

उत्तर—कारण—स्वतंत्र भारत मे पहली बार समय से लगभग 14 मास पूर्व लोक-सभा को भंग कर दिया गया । 27 दिसम्बर 1970 को जब लोक-सभा भंग कर मध्यावधि चुनाव की घोषणा की गई तब यह संभावना थी कि यह अपने जीवन के 5 वर्ष पूरे कर सकती थी । उस वक्त लोकसभा के 523 स्थानो में से नई कांग्रेस के 220 स्थान थे तथा अन्य कोई विरोधी दल भी अपने बहुमत का दावा नही कर सकता था । श्रीमती इन्दिरा गांधी स्पष्ट बहुमत न होने के बावजूद भी प्रधानमंत्री बनी रही । राज्यो मे इस प्रकार का संकट उपस्थित होने पर संविधान की धारा 356 के अन्तर्गत राष्ट्रपति शासन लागू किया जा सकता है लेकिन केन्द्र मे राष्ट्रपति शासन लागू किये जाने का कोई प्रावधान नही है । तब यह प्रश्न उठता है कि क्या राष्ट्रपति तत्कालीन लोकसभा को भंग कर नये चुनाव की घोषणा करने लिए प्रधानमंत्री की सलाह मानने को बाध्य थे ? ऐसी स्थिति मे दो विकल्प थे कि राष्ट्रपति या तो प्रधानमंत्री की सलाह मान कर लोक-सभा के नये चुनाव का आदेश देते या अपने विवेक का प्रयोग कर विपक्ष के नेता को नई सरकार बनाने को आमंत्रित करते । किन्तु परिस्थितियों को देखते हुए लोक-सभा के नये चुनाव का ही विकल्प रह गया था ।

कांग्रेस-विभाजन—लोक-सभा का भंग होना कोई आकस्मिक घटना नही थी । 1969 के कांग्रेस-विभाजन मे यह प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है । कांग्रेस-विभाजन व्यक्तित्व की टकराहट का प्रश्न बनकर विचार-धारा के मिश्रित संघर्ष का प्रतीक बन जाता है । यद्यपि श्रीमती इन्दिरा गांधी ने यह राजनीतिक नारा लगाया कि जनमत जानने के लिए मध्यावधि चुनाव करवाने जरूरी है, किन्तु तथ्य क्या रहे, यह जनसाधारण की नजरो से छिपे रहे ।

नई कांग्रेस का अल्पमत—मध्यावधि चुनाव का मुख्य कारण संसद में नई कांग्रेस का अल्पमत था । प्रधानमंत्री श्रीमती गांधी को कुर्सी के स्थायित्व के लिए समर्थन पाने हेतु अन्य-दलों की चम्पी करनी पड़ती थी । मुस्लिम लीग जो कि साम्प्रदायिक दल के रूप मे जाना जाता है । उसके साथ अल्पसंख्यकों की रक्षा की दुहाई

देकर उसने गुप्त गठजोड किया । साम्यवाद जिसको कभी Enternitorial loyalty party कहता जाता था और जिस साम्यवादी सरकार को बदनाम करने के लिए कलकत्ता मे हुए रवीन्द्र सरोवर काण्ड को इतना बढ़ाकर प्रचारित किया उसी का समर्थन पाने के लिए प० बगाल के हिंसात्मक कार्यों को देखकर भी मुँह मोड़ना पड़ा जबकि केरल मे *Central Govt Strike.* की केवल संभावना पर *Reserve* Force भेजी जिसका कि वहा की राज्य-सरकार ने भी बहिष्कार किया । यह सब D M K , B K D , S S P , P S P. आदि का समर्थन पाने के लिए किया । किन्तु श्रीमती गांधी द्रौपदी की सी इस स्थिति से छुटकारा पाना चाहती थी इसलिए उसने अपनी सत्ता का दाव लगाकर मध्यावधि चुनाव का जुआ खेलने का फैसला किया ।

गिरी हुई अर्थव्यवस्था—हमारी गिरती हुई अर्थ-व्यवस्था भी मध्यावधि चुनाव का एक कारण थी । सरकार तेजी से बढ़ती हुई कीमतो पर काबू नही कर पा रही थी और साथ ही फरवरी में बजट पेश करना था । घाटे का बजट रखने पर पर नये कर लगाने पड़ते और सभवतः क्षुब्ध जनता अगले चुनावों मे कांग्रेस को बहुमत मे न आने देती । जनसाधारण को आर्थिक स्थिति से अनभिज्ञ रखने के लिए पहले कर रहित आशिक बजट रखा, फिर पूरक बजट रखा जिसमें करो की भरमार थी । चुनाव के समय भी बढ़ी हुई कीमतो के आंकड़ो पर दृष्टिपात करें तो आप और हम दातों तले अंगुली दबाने लगेंगे । औद्योगिक कच्चे माल में 11%,वनस्पति मे 16%, दूध व दूध से बने पदार्थों में 14·2%, फल एव सब्जी मे 13 8%, कॉफी मे 40 7%, कपास में 12 4%, पटसन मे 44 2%, मूगफली मे, 9 9%, वृद्धि हुई और इसी प्रकार पिछले दस वर्षों मे गेहूँ का भाव 40 रु० क्वि. से 102 रु per. क्वि., चावल 48 रु. क्वि. से 106 रु० क्वि , मक्खन 179 रु. क्वि से 5056 रु. क्वि., लाल मिर्च 214 रु. क्वि , से 700 रु. क्वि. तथा वनस्पति का टीन 40 रु. से 101 रु. हो गया । चांदी 189 रु प्रतिकिलो से 500 रु., प्रति किलो एवं 10 ग्राम सोने का भाव 135 रु. से 199 रु. हो गया । कपड़े धोने का साबुन 1·50 रु. प्रति किलो से 3·50 रु. हो गया एवं नहाने का साबुन 44 नये पैसे प्रति टिकिया से 70 नये पैसे हो गया ।

जनता की अज्ञानता—जनता को इसी भ्रमजाल मे रखने के लिए श्रीमती गांधी ने मध्यावधि चुनाव का चक्कर चलाया ।

महासंघ को तोड़ना—मध्यावधि चुनाव की घोषणा करवाने मे श्रीमती-गांधी का एक उद्देश्य राजनैतिक दलों के (Grand Alliance) को तोड़ना था । चूंकि सभी दल सत्ता प्राप्त करना चाहते थे और वे अकेले चुनाव लड़कर बहुमत प्राप्त नही कर सकते थे इसलिए संगठनात्मक कांग्रेस के नेतृत्व में "एकता के लिए इंदिरा हटाओ" के नाम पर जनसंघ, स्वतंत्र एव S.S.P. ने महासहयोग के प्रस्ताव को स्वीकार किया यद्यपि इनमें आन्तरिक मतभेद भी था । इससे इन्दिरा सरकार लड़खड़ाई और

डर के मारे साम्यवादी मुस्लिम लीग, B. K. D. D., M. K. आदि से गुप्त समझौते किये। किन्तु फिर भी श्रीमती गाँधी को विरोधी दलों का यह गठबंधन गवारा नही था इसलिए उसने माध्यावधि चुनाव का जाल फेंका, जिससे Grand Allianle मे भगदड़ मच गई और उनका सहयोग केवल 'कागजी-वादा' बन कर रह गया।

न्यायालय के विरोधी निर्णय—गोलकनाथ केस के बाद से यह स्पष्ट दिखाई दे रहा था कि संसद द्वारा जिन मूल्यों का प्रतिनिधित्व होता है उनका न्यायालय द्वारा किये गये निर्णयो से संघर्ष होता है, संघर्ष के फलस्वरूप सामाजिक न्याय की दिशा मे किये गये प्रयास विफल हो जाते हैं। बैंक राष्ट्रीयकरण के कानून को दो आपत्तियों के कारण अवैध घोषित किया कि इसमे पक्षपात किया गया था और मुआवजे का कोई प्रावधान नही रखने के कारण मौलिक अधिकारों पर कुठाराघात होता है। यद्यपि नये अध्यादेश के द्वारा इन आपत्तियो को दूर किया गया परन्तु अपनी ही चीज का राष्ट्रीयकरण करने मे कोई तुक नही, अगर विदेशी बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया जाता तो राष्ट्र को कुछ फायदा ही होता।

प्रिवीपर्स का निर्णय—आगे चलकर Privy-purse का बिल लोकसभा में तो किसी तरह से पास हो गया पर राज्य-सभा मे एक वोट से गिर गया। किन्तु समाजवाद का दंभ भरने वाली इंदिरा सरकार ने (de-recognition) आदेश राष्ट्रपति से निकलवाये। किन्तु इसको सर्वोच्च न्यायालय ने असंवैधानिक घोषित किया। (Privy-purse) को सम्पत्ति बताकर मौलिक अधिकारों का प्रश्न बना दिया और सरकार मौलिक अधिकारो में परिवर्तन नही कर सकती। वास्तव मे सर्वोच्च-न्यायालय ने अपने अस्तित्व को सिद्धकर दिया पर इन निर्णयोसे सरकार बौखला उठी क्योंकि (Privy-purse) के मतदान के समय भी सरकार की काफी बदनामी हो चुकी थी। राष्ट्रपति V. V. गिरि के चुनाव के समय स्वतत्र मतदान की रट लगाने वाली प्रधानमत्री ने इस समय दबाव डालना शुरू किया फलस्वरूप U. P. के भानुप्रतापसिंह ने गुस्से में आकर इस्तीफा तक दे दिया। और तो और (Chief justice) हिदायतुल्ला ने (Privy-purse) का निर्णय अपने (Retirement) के कुछ समय पहले दिया था और उनके बाद इन्दिरा-सरकार अपने ही आदमी कुमार-मङ्गलम को (Chief justice)बनाना चाहती थी पर यहाँ भी उसकी एक न चली। इसलिए यह स्वाभाविक था कि Mrs. गांधी को ऐसी चाल चले जिससे जनता उसके पक्ष मे हो जाये। यह समय भी उचित था जबकि जन-भावनाओं को समाजवाद के नाम पर उत्तेजित किया जा सकता था। यह समाजवाद मार्क्स या एंजिल्स द्वारा प्रतिदिन समाजवाद नही था। फिर श्रीमती-गांधी ने प्रचार किया कि सरकार के लिए उचित बहुमत के अभाव मे कोई विकास का कदम नही उठा सकती इसलिए माध्यावधि चुनाव करवाने आवश्यक हो जाते हैं।

राज्यों में रोष—राज्य-विवादों ने उग्र रूप धारण कर लिया था और

सरकार इन राज्य-विवादों को भुलवाना चाहती थी। मैसूर-महाराष्ट्र सीमा-विवाद से सरकार की बहुत बदनामी हो चुकी थी तथा केरल का विवाद भी इसी में शामिल कर लिया था और इधर तेलंगाना संघर्ष-समीति के अध्यक्ष चेन्नाराय-रेड्डी ने तेलंगाना बनाने की घोषणा की इससे सरकार के प्रति जनमत खराब हो गया था। जनमत प्राप्त करने के लिए प्रधानमंत्री ने मध्यावधि चुनाव की घोषणा करवाई। जयप्रकाश-नारायण ने नक्सलवाद को समाप्त करने का जिम्मा लिया तो सरकार-विरोधी भावनायें और उठ खड़ी हुईं।

उपचुनावों में जीत—1967 के बाद जितने उप-चुनाव हुए उसमें कांग्रेस (N) को बहुमत मिला था इसलिए सोचा गया कि अगर मध्यावधि चुनाव हो जाते हैं तो सम्भवत: फिर उनको बहुमत मिल जाये। राज्यों के विधान-मण्डलों के लिए 40 स्थानों में उप-चुनाव हुए उनमें कांग्रेस (N) ने 32 स्थानों पर चुनाव लड़कर 23 स्थान प्राप्त किये। इसी प्रकार लोकसभा के 9 स्थानों पर उप-चुनाव हुए जिसमें 5 स्थान कांग्रेस (N) ने जीते। केरल के विधान-मण्डल में कांग्रेस (N) ने 133 स्थानों पर चुनाव लड़कर 32 स्थान प्राप्त किये जबकि पहले केवल 6 सदस्य कांग्रेस (N) के थे। चूंकि आधे से अधिक राज्यों में गैर कांग्रेसी सरकारें थी इसलिए केन्द्रीय-सरकार कोई मनमानी नहीं कर सकती थी इतना होने पर भी गैर-कांग्रेसी सरकार वाले राज्यों को यह शिकायत थी कि केन्द्रीय-सरकार उनके साथ सौतेली माँ का सा व्यवहार करती है इन सब मुसीबतों से छुटकारा पाने का एक-मात्र उपाय मध्यावधि चुनाव ही रह गया था।

विधान-सभा के चुनावों से अलग—मध्यावधि का एक कारण यह भी था कि अब-तक भारत में विधान-सभाओं एवं लोकसभा में चुनाव साथ-साथ होते आये थे। अब अगर इनको मध्यावधि चुनाव के द्वारा अलग-अलग करवाये जायें तो कांग्रेस (N) राज्यों पर भी ध्यान दे सकेगी और इस प्रकार उसके बहुमत के ज्यादा (Chances) हो जायेंगे और हुआ भी यही। केन्द्रीय-सरकार ने अपनी सारी शक्ति इस चुनाव पर लगा दी।

राष्ट्रीय स्तर में अन्तर—अब-तक के (Voting behaviour) से स्पष्ट था कि जनता राष्ट्रीय स्तर तथा स्थानीय स्तर के प्रश्नों में अन्तर नहीं कर पाती। जनता के मानस में विषयों और स्तरों का अन्तर करने हेतु सम्भवत: मध्यावधि चुनाव की घोषणा करवाई गई।

राजनीति का जनतंत्रीकरण—मध्यम चुनाव का एक कारण भारतीय-राजनीति का जनतंत्रीकरण भी हो सकता है। राजाओं का (Role) पहली व सम्भवत: अंतिम बार संगठित होकर उभरा। राजस्थान, गुजरात, व M. P. के सन्दर्भ में यह प्रश्न महत्वपूर्ण हो जाता है कि जनता के लिए इन राजाओं ने क्या किया? यह सरकार के लिए एक चुनौती बन गई और इस चुनौती को मध्यावधि चुनाव के द्वारा दबाया गया।

प्रधानमंत्री का उभरता व्यक्तित्व—अन्त में यह कहा जा सकता है कि (Stability for change)इन चुनावों का अभिप्राय था। ये (Pragmatic cum preministerial) चुनाव थे जिसमें प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा-गांधी का कुशल नेतृत्व उभर कर सामने आया।

प्रश्न 35—नई कांग्रेस की विजय के कारणों का विवेचन कीजिये।

अथवा

श्रीमती गांधी का व्यक्तित्व ही नई कांग्रेस विजय का कारण रहा।

उत्तर—भूमिका:—मध्यावधि चुनाव से पहले जनसाधारण की यह धारणा बन गई थी कि श्रीमती इन्दिरा गांधी ने जो अपने प्रधानमन्त्री पद का दाव लगाया है उसके परिणाम भयंकर निकल सकते हैं और सम्भवत: उनको अभी रही-सही सत्ता से भी हाथ धोना पड़े। किन्तु राजनीति-शास्त्र में वैज्ञानिक सिद्धान्तों के अभाव में कई बार अनुमान एकदम गलत हो जाते है। मध्यावधि चुनाव के बारे में भी यही हुआ। जनभावनाओं का सही अन्दाजा नही लगाया गया फलस्वरूप सबकी धारणायें निर्मूल सिद्ध हुईं और श्रीमती गांधी दो तिहाई बहुमत से भी अधिक मत प्राप्त करने में समर्थ हो सकी। देश तथा विदेशों में इसे एक सनसनीखेज घटना के रूप में देखा गया। किन्तु तथ्यों तथा वास्तविकताओं की गहराई में देखें तो नई कांग्रेस की अप्रत्याशित विजय की खोज की जा सकती है। कुछ परिस्थितियाँ ऐसी हो गई थी कि इन्दिरा गांधी को बहुमत स्वभाविक रूप से मिल गया। नई कांग्रेस की जीत के कारणों की विवेचना इस प्रकार से की जा सकती है—

स्थायी सरकार की आवश्यकता—सबसे प्रथम कारण तो यह था कि केन्द्र में स्थाई तथा दृढ़ सरकार की आवश्यकता महसूस की जा रही थी क्योंकि सीमाओं पर तनाव बढ़ता जा रहा था। एक ओर चीन भारतीय पंचशील को पचशूल मारने को उतावला था तो दूसरी ओर पाकिस्तान अपनी गिद्ध दृष्टि जमाये था। ऐसी स्थिति में स्वाभाविक है कि जनता देश में एकता व दृढ़ता के लिए कांग्रेस (N) को वोट दे। अधिकांश राज्यों में अन्य राजनैतिक दलों की तथा संयुक्त सरकारें फेल हो चुकी थी इसलिए जनता इसी असफलता को दुहराना नही चाहती थी इस कारण नई कांग्रेस की भारी विजय हुई।

महासंघ में फूट—इन्दिरा विजय का सबसे महत्वपूर्ण कारण चार दलों—संगठनात्मक कांग्रेस, जनसंघ, स्वतंत्र व एस. एस. पी. के महासहयोग की आन्तरिक कमियां थीं। कथित राजनैतिक दलो ने केवल "देश की एकता के नाम पर इन्दिरा हटाओ" नारा लगाया। इस एकसूत्री कार्यक्रम के अलावा उनके पास कोई Common-Programme नही था और न ही कोई नीति या सामान्य चुनाव घोषणापत्र। और तो और इन दलों के नेताओं मे खुद मे ही फूट थी। निजलिंगप्पा के घर जो नेताओं का सम्मेलन हो रहा था उसमें से मीनूमसानी उठकर चले गये। हाला

में राजाजी ने किसी प्रकार उन्हें मना भी लिया था। यह चौगुटा जनता के सामने अपने आपको भली-भांति प्रकट न कर सका और इसका फायदा नई कांग्रेस ने उठाया। उन्होंने इनके सहयोग पर प्रहार किया और लांछन लगाया कि जनसंघ तो धार्मिक पार्टी है, स्वतन्त्र दल राजाओं का दल है जो कि जनतंत्र के विरुद्ध है, संगठनात्मक कांग्रेस पुराणपंथी और एस. एस पी. कोई मुख्य दल नहीं है। यह बात जन-भावनाओं को छू गई। परिणामस्वरूप नई कांग्रेस वोट प्राप्त करने में सफल हो गई।

प्रगतिशील नीतियां—नई कांग्रेस विजय का एक अन्य कारण सरकार की प्रगतिशील नीतियां थीं। इन्दिरा सरकार ने बैंक राष्ट्रीयकरण, भूमि बिक्री, शाही थैली आदि के बारे में जो निर्णय दिये उनके विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालय ने निर्णय दिये और इन्हीं की दुहाई देकर श्रीमती गांधी ने जनता में प्रचार किया कि केवल नई कांग्रेस ही प्रगतिशील कदम उठा सकती है। इससे युवा पीढ़ी तो उसके साथ हो गई और वृद्धों को साथ करने के लिए इन्दिरा सरकार ने मंहगाई के नाम पर पेंशन बढ़ा दी। इस प्रकार वह वोट बटोरने में समर्थ हो गई।

घोषणा-पत्र की आकर्षकता—नई कांग्रेस का घोषणा-पत्र भी बड़ा आकर्षक था सभी वर्गों को अपने मायाजाल में फँसाने का श्रीमती गांधी का अच्छा प्रयास था। उसने 'गरीबी हटाओ' 'समाजवाद को लाने','बेरोजगारी को दूर' करने का राजनैतिक नारा लगाया और शिक्षित वर्ग को आर्थिक सहायता दी और इस मृगमरीचिका में सब मतदाता भटक गये। शायद श्रीमती गांधी ने ही भारत में समाजवाद लाने का ठेका ले रखा है। और इसी कारण वह पुनः सत्ता में भी आ सकी।

सत्ता का प्रयोग—एक बात यह भी है कि जिसके पास सत्ता होती है वह हर अनुचित कार्य को भी उचित सिद्ध कर सकता है। नई कांग्रेस के सत्ता में होने के कारण चुनावों में एड़ी-चोटी का जोर लगाया गया और यह प्रयत्न सफल हुआ भी। अधिकांश सरकारी नौकरों ने भी नई कांग्रेस को वोट देना अपना कर्त्तव्य समझा।

यू. पी. के मनीराम क्षेत्र से चरणसिंह के हटाये जाने के बाद संगठनात्मक कांग्रेस के त्रिभुवननारायण सिंह को नई कांग्रेस के सदस्य के द्वारा हटाया जाना भी कांग्रेस विजय के लिए महत्ता का कारण बना। महासहयोग के समर्थन के बावजूद भी मुख्यमन्त्री की हार ने नई कांग्रेस के विजय के रास्ते खोल दिये।

श्रीमती गांधी का व्यक्तित्व—वैसे भी कांग्रेस-विभाजन के बाद से इन्दिरा सरकार ने संगठन व प्रशासन दोनों पर अपना अधिकार जमा लिया था, इन्दिरा के विरोध का मतलब सीट को खोना था और सभी लोग अपनी गद्दी से चिपके रहना चाहते थे अतः निम्नस्तर से केन्द्रीयस्तर तक इन्दिरा की जय-जय कार हो गई। नई कांग्रेस ने केवल श्रीमती इन्दिरा गांधी के नाम पर वोट लिये। लोग उम्मीदवारों को नहीं जानते थे पर इन्दिरा व कांग्रेस के नाम पर वोट दिये।

प्रजा समाजवादी, संयुक्त समाजवादी तथा द्रविड़ मुनेत्र कषगम दलों ने किया। मुख्य विरोध स्वतन्त्र पुरानी कांग्रेस, जनसंघ, भारतीय क्रांतिदल आदि ने किया किन्तु फिर भी संसद में यह विधेयक 154 के विरुद्ध 339 मतों से पारित हो गया। इस प्रकार लोकसभा में $\frac{2}{3}$ बहुमत विधेयक के पक्ष में रहा।

राज्य-सभा में विधेयक—5 सितम्बर 1970 को जब इसे राज्य-सभा के समक्ष प्रस्तुत किया गया तब वहाँ विधेयक के पक्ष में 149 मत आये तथा उसके विपक्ष में 75 मत पड़े। इस प्रकार राज्य-सभा में $\frac{2}{3}$ बहुमत पाने में केवल एकमत के अन्तर के कारण यह पारित न हो सका। इसका प्रभाव नई कांग्रेस की प्रतिष्ठा पर पड़ना ही था अतः सरकार ने अगले ही दिन राष्ट्रपति द्वारा धारा 366 (22) के अन्तर्गत ही अपनी कार्यपालिका शक्तियों के उपयोग करते हुए एक आदेश द्वारा नरेशों के विशेषाधिकार एवं प्रिवीपर्स की समाप्ति की घोषणा करवा दी।

नरेशों द्वारा सर्वोच्च न्यायालय में अपील—इसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप भूत-पूर्व राजाओं ने राष्ट्रपति के आदेश की वैधता को सर्वोच्च न्यायालय में चुनौती दी और निवेदन किया संविधान की स्थापना से पूर्व चालू नरेशों के प्रिवीपर्स देने सम्बन्धी सरकारी दायित्वों पर भावी सरकार स्थायी रूप से बहस करेगी। इस धारा द्वारा संविधान में नरेशों के साथ किये गये समझौतों को सुरक्षा प्रदान की गई थी। नरेशों ने अपनी याचिकाओं में तर्क दिया कि देशी रियासतों के शासकों और स्वतन्त्र भारत सरकार के बीच हुए वादों की उपेक्षा नहीं की जा सकी क्योंकि देश के एकीकरण का यह आधारभूत तन्त्र है जिस पर राष्ट्र के संविधान की आधारशिला रखी गई है। नरेशों ने कहा कि वर्तमान भारत का 42% भूभाग देशी रियासतों के साथ भारत सरकार के मध्य हुए समझौतों की देन है।

संविधान का अतिक्रमण—याचिकाओं में नरेशों द्वारा यह भी निवेदन दिया गया कि राष्ट्रपति ने उनकी मान्यता एवं विशेषाधिकारों की समाप्ति की घोषणा करके संविधान का अतिक्रमण किया है एवं संसद के निर्णयों की अवहेलना की है क्योंकि जिस कार्य को संसदीय प्रक्रिया द्वारा सरकार करने में असमर्थ रही, उसे राष्ट्र-पति ने अपनी कार्यपालिका शक्तियों का कथित उपयोग कर पूरा कर दिया और संसदीय निर्णयों के विपरीत अपना आदेश जारी किया। यह वास्तव में संसदीय जनतन्त्र के भविष्य के लिए खतरनाक परम्परा थी। याचिकाओं में राष्ट्रपति का आदेश जारी करने की नीयत को अनुचित बतलाया। राष्ट्रपति को कम से कम इसके पूर्व कि ऐसा आदेश जारी करें, नरेशों से वार्ता द्वारा न्याय के सामान्य सिद्धान्तों, अनु-पालन करने का अभिप्राय होना चाहिये था और आगे यह कहा गया "कि राजनीतिक उद्देश्य से निकाला गया राष्ट्रपति का आदेश संविधान की धारा 14 और 53 (1) का स्पष्ट उल्लघन है।"

प्रिवीपर्स एक मौलिक अधिकार—नरेशों ने अपनी याचिकाओं में निवेदन किया कि "कर मुक्त प्रिवीपर्स पाने सम्बन्धी नरेशों का अधिकार सम्पत्ति सम्बन्धी मौलिक

आधार है जिसे बिना किसी कानून के नही छीना जा सकता। प्रिवीपर्स नरेशो द्वारा भारत सरकार के हस्तान्तरित भारत सम्पत्ति के प्रतिफल मुग्रावजे के तौर पर दी गई प्रतीकात्मक राशि थी जो समझौते के अनुसार दी जाने वाली थी और जिसे संविधान ने सुरक्षा प्रदान की थी।" यह दी गई कि "यदि इस प्रकार संविधान द्वारा प्रदत्त सुरक्षा अधिकारो को छीनने का अधिकार कार्यपालिका को दिया तो देश मे संसदीय लोकतन्त्र और संविधान के प्रति आस्था समाप्त हो जायेगी।"

नीरेन डे का मत—भारत सरकार की ओर से महान्यायवादी नीरेन डे ने मुख्यत: यह दलील दी कि नरेशों की याचिकाओं पर न्यायालय को विचार करने का अधिकार नही है। दलील मे यह कहा गया कि "संविधान की धारा 363 मे स्पष्ट तौर पर लिखा है कि नरेशो और भारत सरकार के मध्य समाप्त करारो से उत्पन्न विवादों को न्यायालय मे नही लाया जा सकता।" महान्यायवादी ने यह दलील दी कि "नरेशों के साथ सम्पन्न करार राजनीतिक करार था, अत राष्ट्रपति को उसे भंग करने का अधिकार है। इसके अतिरिक्त राज्य द्वारा सार्वभौमिक सर्वोच्च शक्तियो का उपयोग किये जाने पर न्यायालय उसके औचित्य अथवा अनौचित्य पर विचार नही कर सकता।"

सरकारी पक्ष—सरकारी पक्ष के समर्थन मे कहा गया कि प्रिवीपर्स की समाप्ति में संविधान मे वर्णित निर्देशक तत्वो को लागू करने के लिए अत्यावश्यक है। आगे कहा गया कि "नरेशों की मान्यता संविधान के निर्देशक सिद्धान्तों की पूर्ति के लिए भंग की गई है। किसी भी करार में नरेशों को अनन्तकाल तक नरेश बने रहने अथवा प्रिवीपर्स पाने का अधिकार नही दिया गया था।" सरकारी पक्ष मे आगे कहा गया कि नरेशों की प्रिवीपर्स एक राजनीतिक पेंशन थी जिसे समाप्त करने के लिए राष्ट्रपति सक्षम है।

सर्वोच्च न्यायालय का निर्णय—सर्वोच्च न्यायालय ने प्रिवीपर्स के मामले पर 14 अक्टूबर से 27 नवम्बर 1970 तक सुनवाई जारी रखी। 15 दिसम्बर को 2 के मुकाबले 9 के बहुमत से नरेशो की मान्यता समाप्त करने सम्बन्धी राष्ट्रपति के आदेश को अवैध घोषित किया। बहुमत न्यायाधीशो का निर्णय कि संविधान सरकार संविधान को निर्देश देता है कि वह अभूतपूर्व राजाओं को जिन्हें ऐतिहासिक कारणो से विशिष्ट अधिकार प्रदत्त किये गये हैं, प्रिवीपर्स दे। केन्द्रीय सरकार स्वेच्छानुसार उन्हें उन विशेष अधिकारो से वंचित नही कर सकती। सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय में स्पष्ट रूप मे उल्लिखित किया गया है कि—"राष्ट्रपति यह दावा नही कर सकता कि उन्हें अपने कार्यों को अदालत मे चुनौती दिये जाने की तरफ से संरक्षण प्राप्त है। उन्हे न तो इसे मुगल सम्राट की भाँति सर्वोच्च सत्ता वाला वह अधिकार प्राप्त है जो अपनी स्वेच्छानुसार अपने सिपाहसालारों को सूबेदारी दे सकता था, ना ही उन्हें ब्रिटिश ताज से सर्वोच्च सत्ता वाला अधिकारी मिला है।

श्री हिदायतुल्ला का मत—मुख्य न्यायाधीश श्री हिदायतुल्ला ने राष्ट्रपति पर निर्वात के आरोप को गलत बतलाया और कहा कि "राष्ट्रपति ने 6 सितम्बर 1970

को आदेश जारी करके अपने अधिकारों का अतिक्रमण किया है।" मुख्य न्यायाधीश ने आगे कहा कि "राजाओ के साथ भारत के जो करार हुये थे, वे त्रुटिपूर्ण करार नही थे, संविधान ने उनकी गारन्टी दी थी। उन करारो द्वारा नरेशों को जो कुछ भी अधिकार मिले थे, उन्हें न्यायालय दिला सकता है। धारा 366 (22) के अनुसार नरेशो को कायम रखने और उनके निधन के पश्चात् उनका वैधानिक उत्तराधिकारी घोषित करने के साथ सरकार को नरेशों की मान्यता छीनने का अधिकार नही है।

मुख्य न्यायाधीश ने राष्ट्रपति के आदेश को अवैध मानते हुए इस सम्बन्ध मे सर्वोच्च न्यायालय के पूर्व-निर्णयों का उद्धरण दिया कि "राज्य की कार्यवाही है जिसका आधार न तो कानून और न कुछ और है चू कि कोई सर्वोच्च सत्ता या राजनीतिक शक्ति नही है, इसीलिए संविधान के अन्तर्गत कार्यपालिका की प्रत्येक कार्यवाही का किसी न किसी कानून मे कोई औचित्य होना चाहिए। धारा 363 का अस्तित्व ही जिसमे सब प्रकार की सर्वोच्च सत्ता या राज्य की कार्यवाही का समावेश बतलाया जाता है, यह सूचित करता है कि कानून की सीमा के बाहर कोई राजनीतिक सत्ता नही है अन्यथा एक अतिरिक्त अंग की आवश्यकता शायद ही पड़ती।

श्री हिदायतुल्ला ने अपने निर्णय मे कहा कि संविधान की धारा 291 के अन्तर्गत सरकार प्रिवीपर्स देने के लिए बाध्य है। किसी राशि के भारत के संपीडित कोष से दिये जाने के निर्धारण का अर्थ यह व्यवस्था कर देना है कि जिसको यह राशि मिलती है उसके बारे मे ससद के निर्णय द्वारा भी परिवर्तन नही किया जा सकता और यह निर्धारण सम्बद्ध धारा के सही अमल का कारगर आश्वासन है।

संविधान के बाहर—सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश द्वारा अपने बहुमत निर्णय मे कहा गया कि "भारत मे राष्ट्रपति को संविधान से बाहर ऐसा कोई राजनीतिक अधिकार प्राप्त नही है जिसका प्रयोग वह नागरिको के, जिसमे नरेश भी सम्मिलित हैं, विरुद्ध कर सकता है। बहुमत निर्णय में कहा गया कि "न्यायालयों को संविधान के अनुच्छेद 366 (22), 291, 362 तथा 363 की व्याख्या करने और उनका सही अर्थ निश्चित करने का अधिकार है। अनुच्छेद 363 के अन्तर्गत न्यायालयो के क्षेत्राधिकार पर सीमित पाबन्दी है।" यह स्पष्ट किया गया कि "राष्ट्रपति को संविधान के अन्तर्गत अधिकार मिले हैं। अनुच्छेद 32 के अन्तर्गत उच्च न्यायालय की शक्ति अथवा अनुच्छेद 221 के अन्तर्गत उच्च न्यायालयों की शक्ति, शक्ति थी। इस आधार पर उपेक्षा नही की जा सकती कि राष्ट्रपति ने राजनैतिक शक्ति का उपयोग किया गया है।

निर्णय मे यह भी कहा गया कि संविधान का अनुच्छेद 366 (22) एक व्याख्यात्मक धारा है जिसके अनुसार राष्ट्रपति को किसी व्यक्ति को नरेश के रूप में मान्यता देने का अधिकार नही है लेकिन यदि यह मान लिया जाये कि इस अनुच्छेद के अन्तर्गत राष्ट्रपति निजी व्यक्ति को नरेश के रूप से मान्यता समाप्त कर सकता है।

तो इस अनुच्छेद के अन्तर्गत राष्ट्रपति किसी व्यक्ति को नरेश के रूप मे ऐसा कोई अर्थ नही निकलता कि राष्ट्रपति संविधान की महत्वपूर्ण व्यवस्थाओं को भी रद्द कर सकता है ।

विधि के शासन के विरुद्ध—राष्ट्रपति के आदेश को मौलिक धारणा के प्रतिकूल बताते हुए निर्णय में यह कहा गया कि भूतपूर्व नरेशों को नागरिकों की एक श्रेणी मे मान्यता प्रदान की गई थी एव उनको विशेषाधिकार इसलिए प्रदान किये गये थे कि उन्होंने अपनी शक्तियो, विशेषाधिकारो, अधिकारो एव आय के स्रोतों का परित्याग किया था । अतः यह कहना कि राष्ट्रपति को कार्यपालिका के अध्यक्ष होने के नाते नरेशों की मान्यता को समाप्त करने का अधिकार है । कानून के शासन की मौलिक धारणा के विरुद्ध है । निर्णय में यह भी कहा गया कि संविधान के अनुच्छेद 291 की धारा (अ) मे स्पष्ट लिखा है कि प्रिवीपर्स की राशि भारत की सचित निधि से देयधन की कटौती करने का ससद को अधिकार नही है । अत. इससे सरकार की प्रिवीपर्स देने की बाध्यता का स्पष्ट रूप से पता चलता है ।

श्री हेगड़े का मत—न्याय-मूर्ति श्री हेगड़े ने कहा कि प्रिवीपर्स असदिग्ध रूप से एक सम्पत्ति है और अमल में लाया जा सकने वाला कानूनी अधिकार है । श्री हेगड़े ने राष्ट्रपति के आदेश को संविधान की धारा 31 के अन्तर्गत सम्पत्ति प्राप्त करने, रखने तथा बेचने के अधिकार के प्रतिकूल बतलाया । राष्ट्रपति की राजनीतिक शक्ति के प्रयोग सम्बन्धी दलील की चर्चा करते हुए कहा कि "कार्यपालिका और नागरिकों के सम्बन्धो के विषय मे हमारे सविधान के अन्तर्गत राजनीतिक शक्ति जैसी किसी चीज का अस्तित्व नहीं है । हमारा संविधान केवल तीन शक्तियों को मान्यता देता है—विधायिका शक्ति, न्यायपालिका शक्ति और कार्यपालिका शक्ति, वह किसी अन्य शक्ति को मान्यता नही देता ।"

न्यायमूर्ति श्री मित्तर ने यह धारणा प्रस्तुत की कि भूतपूर्व नरेशो की मान्यता समाप्त करने के बारे मे आदेश जारी करने से पूर्व राष्ट्रपति महोदय को सर्वोच्च न्यायालय से परामर्श लेना राष्ट्रपति का अधिकार नही अपितु कर्तव्य है ।

विरोधी पक्ष का मत—सर्वोच्च न्यायालय की "न्यायाधीशों की बेंच मे 9 न्यायाधीशों ने राष्ट्रपति के आदेश को सविधान के प्रतिकूल बतलाया किन्तु 2 न्यायाधीशो ने उसको उचित बतलाया । न्यायाधीश श्री ए० एन० रे ने कहा कि सविधान की धारा 363 के अनुसार राष्ट्रपति के आदेश पर न्यायालय को विचार करने का अधिकार नहीं है और यह सम्पत्ति का अधिकार भी नही है । श्री रे ने आगे कहा कि सर्वोच्च न्यायालय के पूर्व निर्णयों मे भी कहा गया है कि संविधान को धारा 363 के कारण से मिले प्रिवीपर्स विशेषाधिकारो और व्यक्तिगत अधिकारो तथा नरेशों की मान्यता के बारे में अदालत में आवाज नही उठाई जा सकती ।

न्यायाधीश श्री रे ने यह माना कि प्रिवीपर्स अदा करने का समझौता एक राजनीतिक सौदेबाजी है जो देशी रियासतों को भारत मे मिलाने के लिए की

थी। इसी राजनीतिक सौदेबाजी का जिक्र सविधान की धाराओं–291, 362 और 366 (22) मे किया गया है। संविधान की धारा 363 के अनुसार इस समझौते का राजनीतिक स्वरूप स्पष्ट है, जिसमे अदालत मे यह रोक लगाई गई है कि वह इन समझौतो के बारे मे उठे विवादों के मामले नही देख सकती। श्री रे ने याद दिलाया कि सर्वोच्च न्यायालय के दो निर्णयो मे यह माना गया है कि "सविधान की धाराये 291 और 362 भी धारा 363 के अन्तर्गत आती है। यदि पुनरावृत्ति की जाये तो कहना होगा कि धाराये 291, 363 और 366(22) प्रत्यप्रतः धारा 363 से सम्बन्धित है।

ससद की प्रतिष्ठा को ठेस, मध्यावधि चुनाव की घोषणा—इस प्रकार सर्वोच्च न्यायालय ने 2 के मुकाबले 9 के बहुमत से राष्ट्रपति के आदेश को अवैध करार कर दिया और राजाओ की मान्यता एव विशेषाधिकारो को बहाल कर दिया किन्तु इसका परिणाम सत्ता आरूढ़ मन्त्रिमण्डल पर पड़ना ही था। अतः श्रीमती गाधी ने दृढता से इस सकल्प को दोहराया कि कांग्रेस दृढता से अपने 10 सूत्री कार्यक्रम को लागू करने के लिए कृतसंकल्प है और दिसम्बर 1970 मे श्रीमती गाधी ने राष्ट्रपति को संसद को भग करने की सलाह दी और प्रिवीपर्स की समाप्ति की घोषणा पर निर्वाचन द्वारा जनता की राय जानने की बात कही। फलस्वरूप मार्च 71 मे लोकसभा में मध्यावधि चुनाव हुए और काग्रेस को $\frac{2}{3}$ बहुमत से भी अधिक 350 स्थान प्राप्त हुए।

नई कांग्रेस की जीत, 24वां सशोधन—पुनः सत्तारूढ़ होने के पश्चात् श्रीमती गाधी ने प्रिवीपर्स को शीघ्र ही समाप्त करने का निर्णय लिया और ऐसी व्यवस्था से इसकी समाप्ति का मार्ग अपनाने का निश्चय किया कि सर्वोच्च न्यायालय किसी भी प्रकार की बाधा उपस्थित न कर सके और इसके लिए शीतकालीन अधिवेशन मे ससद के समक्ष प्रथमतः 24वा सशोधन (सविधान) विधेयक प्रस्तुत किया गया, जिसमे मौलिक अधिकारो सहित सविधान के किसी भी भाग मे संशोधन का अधिकार ससद को मिल गया और उसके पश्चात् निरन्तर क्रम मे 25वा, 26वां तथा 27वां संविधान सशोधन विधेयक राजाओ के प्रिवीपर्स और विशेषाधिकारो की समाप्ति से सम्बन्धित था।

श्रीमती गांधी की धारणा—2 दिसम्बर, 1971 को श्रीमती गांधी ने सशोधन विधेयक को पेश करते हुए कहा कि "हमने प्रतिज्ञा की थी, जिसे पूरा करने के लिए यह विधेयक सदन के सामने है, उन्होने सदन से इसे स्वीकार करने के लिए कहा और बताया कि यह विधेयक इतिहास की भावना के अनुकूल है।"

प्रधानमन्त्री ने आगे कहा कि "प्रिवीपर्स" के बारे मे उच्चतम न्यायालय ने जिस राष्ट्रपति का आदेश रद्द कर दिया था उसी दिन मैने सदन मे कहा था कि सरकार शाही थैली समाप्त करने के लिए वचनबद्ध है।

श्रीमती गाँधी ने कहा—"हम जमींदारी समाप्त कर चुके है, बड़े उद्योगपतियों पर रोक लगा रहे है यह उचित ही है कि सामन्तवादी नरेशो को विरासत मे मिले विशेषाधिकार भी समाप्त कर दिये जायें। मुझे आशा है कि नरेश इसे ऐतिहासिक दृष्टि से ही देखेंगे। उन्होंने आगे कहा कि "सविधान मे सशोधन करने के लिए तीनो विधेयको का उद्देश्य समाज मे व्याप्त विषमताओं को कम करना है। स्वाधीनता के बाद हमने एक-एक कर इन विषमताओ को हटाने का प्रयत्न किया है। मैं किसी पर दोष नहीं डाल रही लेकिन यह समस्या पारस्परिक विचारवार्ता से हल हो सकती तो मुझे खुशी होती।"

विधेयक का पारित होना—विधेयक पर मतदान के समय इसके पक्ष मे 383 और विपक्ष में 7 मत पडे। राज्य-सभा मे भी स्वतन्त्र पार्टी के अतिरिक्त सभी दलों ने भी विधेयक का समर्थन किया। राष्ट्रपति श्री गिरि ने 31 दिसम्बर 1971 को इस विधेयक की स्वीकृति प्रदान की तथा 1 जनवरी 1972 से इसे लागू भी कर दिया गया। इस प्रकार विधेयक के अधिनियम बन जाने के पश्चात् भूतपूर्व राजाओ के प्रिवीपर्स समाप्त हो गये है। इस अधिनियम के फलस्वरूप भूतपूर्व राजाओ के प्रिवीपर्स समाप्त हो गये है। इस अधिनियम के फलस्वरूप भूतपूर्व राजाओ के प्रिवीपर्स से सम्बन्धित सभी विशेषाधिकार, उत्तरदायित्व, कर्त्तव्य एव विमुक्तियाँ भी समाप्त हो जाती है। इस प्रकार कुछ दिन पूर्व तक नरेश लोग जो एक विशेषाधिकार प्राप्त नागरिक थे अब सामान्य नागरिक के रूप मे रह गये है।

यद्यपि 1 जनवरी 1972 से राजाओ के विशेषाधिकार एव प्रिवीपर्स समाप्त हो चुके हैं तथापि हमे यह देखना है कि जिस प्रश्न को लेकर कार्यपालिका, व्यवस्थापिका और न्याय-पालिका के मध्य अधिकारों से सम्बन्धित वाद-विवाद एव श्रेष्ठता का झगड़ा प्रकट हुआ, क्या वास्तव में यह प्रश्न इतना महत्त्वपूर्ण था कि जिसे लागू करने के लिए हमे अपने सविधान की आस्था मे सशोधन करना पडा। सविधान के तृतीय भाग को लेकर तथा मौलिक अधिकारो की पवित्रता, अनिवार्यता एव संसद की शक्ति के बाहर संशोधन द्वारा भी अपरिवर्तनीय रहने की बात कही गई थी। वह धारणा इतनी शीघ्र ही समाप्त कर दी गई, जैसा कि मुख्य न्यायाधीश श्री जे० सुब्बाराव ने गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य एव मुकदमे के दौरान तथा हिदायतुल्ला एव श्री हेगड़े ने इस बात को दोहराया कि सविधान का भाग 3 जिसमे मूल अधिकारो की परिगणना की गई है। सविधान के सशोधन के बाहर की वस्तु है। ससद ऐसा कोई कानून नही बना सकती जिससे नागरिको के मूलाधिकारो का हनन होता है।

किन्तु फिर भी सत्तारूढ कांग्रेस दल एव वामपथी दल राजाओ के प्रिवीपर्स एवं विशेषाधिकारो के विरोधी थे, अतः उन्होंने सविधान मे प्रथम इस प्रकार का संशोधन किया, जिससे उसे भाग 3 मे भी संशोधन का अधिकार प्राप्त हो जाये, तत्पश्चात् 27 वें सशोधन द्वारा विशेषाधिकारो को भी समाप्त कर दिया।

प्रिवीपर्स व केन्द्रीय मन्त्रि-मण्डल पर खर्च की तुलना—*यहाँ तुलनात्मक अध्ययन द्वारा इस बात पर भी प्रकाश डालना उचित है* कि क्या इन नरेशों को दी जाने वाली प्रिवीपर्स की राशि इतनी अधिक थी जिसे सहन करना सरकारो के लिए बोझ स्वरूप था और यदि यह बात सही है तो राजाओ को तो एक वर्ष में केवल 5 करोड की राशि का भुगतान किया जाता था जबकि आधुनिक महाराजाओं पर जो कि केवल केन्द्र मे ही स्थित है, कुल राशि का $\frac{1}{10}$ वार्षिक व्यय किया जाता है।

7 जनवरी 1972 को प्रिवीपर्स के रूप मे दी जाने वाली राशि सन् 1950 मे 5·8 करोड थी जो कि 1970 तक घटकर 4 81 करोड रु० रह गई। यह तथ्य इस बात की ओर इ गित करता है कि यदि इसी दर से इसमें कमी होनी रहे तो पूरी एक *शताब्दी के उपरान्त अर्थात् 2050 में इसकी देनदारी पूर्णतः समाप्त हो* जायेगी। मुख्य रूप से नरेशो को इस राशि का भुगतान इस प्रकार से होता है—

1. मैसूर—27 लाख
2. हैदराबाद—20 लाख
3. ट्रावनकोर—18 लाख
4. पटियाला—17 लाख
5. बड़ौदा—10 लाख
6. जयपुर—10 लाख
7. *बीकानेर—10 लाख*
8. भवनगर—10 लाख
9. जम्मू कश्मीर—10 लाख
10. जोधपुर—10 लाख
11. ग्वालियर—10 लाख
12. कोल्हापुर—5 से 10 लाख के बीच
13. नवानगर—10 से 45 हजार
14. रीवा—10 लाख
15. उदयपुर—10 से 26 हजार
16. *कूच बिहार—8 5 लाख*
17. मोरवी—8 लाख से 28000
18. गौड़ाल—8 लाख से 70 हजार
19. कच्छ—8 लाख 34 हजार
20. कोटा—7 लाख
21. रायपुर—6·6 लाख
22. भोपाल—6·2 लाख
23. अलवर—5·02

सरदार पटेल के विचार—*सरदार* वल्लभभाई पटेल ने 2 अक्टूबर 1949 का भारतीय संविधान सभा के समक्ष भाषण देते हुए कहा था—"3 जून 1947 को घोषित योजना का, जिसे कांग्रेस ने स्वीकार कर लिया था, एक अंग यह था कि तथा कथित सर्वोपरि प्रभुसत्ता समाप्त हो जायेगी। हमने इस *योजना को भारत के* विभाजन की ही तरह स्वीकार किया था। हमने इसे इसलिए स्वीकार किया कि हमारे पास और कोई चारा नही था। यदि भारतीय संघ के बाहर रहना ही पसन्द करते तो पहले की तरह ही बहुत बडी मात्रा मे रियासतों के राजकोषों से अपने निजी व्यय के लिए धन निकालते रहते। इसलिए उनके लिए अपने शासन अधिकारो को परित्याग करने के लिए मूल्य के तौर पर बदले में न्यूनतम हम जो कुछ कर सकते थे,

वह यह था कि उन्हें एक उचित और निश्चित आधार पर शाही थैली और मुख्य विशेषाधिकारों की गारन्टी दें। राजाओं ने अपने शासन अधिकारों को हस्तांतरित करके अपनी रियासतों का सम्मिलन कर अपना उत्तरदायित्व निभा दिया है। इन समझौतों के अन्तर्गत हमारे उत्तरदायित्वों का मुख्य भाग यह है कि हम अपने द्वारा गारन्टी की गई शाही थैली के वायदों को पूर्णतः क्रियान्वित किये जाने की सुनिश्चित व्यवस्था करें। यदि हम उसमें असफल होते हैं तो हमारा विश्वास भंग होगा।

सरकार द्वारा समझौता भंग—किन्तु अन्त में वही होकर रहा, जिसकी श्री पटेल को आशंका थी। उसी दल की सरकार ने जिसने इन वायदों को पूरा करने की प्रतिज्ञा की थी। 28 वर्ष भी पूरे नहीं हुए और अपने वायदों को तोड़ डाला। इस प्रकार प्रतीत होता है कि वर्तमान काल में सरकार समाजवादी व्यवस्था की स्थापना के बाद इतने भारी व्यय को तो [illegible] कर चुकी है किन्तु क्या उसे इस बात का भी ज्ञान है कि राजा-महाराजाओं की [illegible] श्रेणी तो समाप्त हो गई किन्तु प्रशासन के इस [illegible] श्रेणी की संख्या तो केवल 278 ही थी, किन्तु वे महानुभाव जिनकी संख्या 1961 में केवल 294 थी, 1970 में बढ़कर 455 हो गई, जिनमें से केवल केन्द्रीय मन्त्रियों की संख्या 1969–70 में 55 थी।

अब भारत सरकार के 5 [illegible] द्वारा सरकार के केन्द्रीय मन्त्रियों पर किये जाने वाले व्यय की तुलना [illegible] गई और यह भी पूछा गया कि [illegible] के रूप में कितनी राशि का भुगतान किया गया है। उसका तुलनात्मक विवरण पेश किया जाये। [illegible] गृह-विभाग [illegible] ने कहा कि केन्द्रीय सरकार में कुल 55 मंत्री और उपमंत्री हैं जबकि पूर्व नरेशों की संख्या 278 है। [illegible] इन दोनों वर्गों पर सरकारी व्यय के जो आंकड़े प्रस्तुत किये वे इस प्रकार हैं:—

मंत्रियों व उपमंत्रियों के वेतन एवं भत्तों के व्यय का विवरण—

मद	1967-68	1968-69	[illegible]
1. वेतन	1240431	1233161	[illegible]
2. [illegible]	116747	95064	[illegible]
3. [illegible]	1062659	1303301	[illegible]
4. सरकारी [illegible] पर व्यय	1142194	1174391	[illegible]
कुल	3450431	4319907	[illegible]

पूर्व नरेशों पर किया गया व्यय—

मद	1967-68	1968-69
1. प्रिवीपर्स	47977233	[illegible]
2. [illegible]	[illegible]	[illegible]

इससे स्पष्ट है कि केवल केन्द्रीय-मंत्रियों एवं उपमंत्रियों पर राजाओं पर व्यय का $\frac{1}{10}$ भाग व्यय किया जाता है और इसमे यदि सभी राज्यों के मंत्रियों एवं उप-मंत्रियों पर किया जाने वाला व्यय सम्मिलित किया जाये तो वह कही राजाओ पर व्यय किये जाने वाले व्यय से ही अधिक होगा। अत. आवश्यकता इस बात की है कि सरकार इस ओर भी कोई आवश्यक कदम उठाने में नही हिचकेगी।

प्रश्न 36—भारत द्वारा आयोजित शिमला में शिखर वार्ता विश्व-शान्ति स्थापित करने में एक महत्वपूर्ण कदम है। इसकी सम्पुष्टि में अपने विचार प्रकट कीजिये।

अथवा

बंगला देश के निर्माण, पाक द्वारा दिसम्बर 1972 मे किये गये आक्रमण मे सफलता रूस के साथ सन्धि और उसके बाद शिमला में श्रीमती गांधी और भुट्टो की शिखर वार्ता भारतीय विदेशी नीति की सफलता के परिचायक हैं।

उत्तर— बंगला देश का आन्दोलन—पाकिस्तान मे जनतंत्र की स्थापना हेतु आम चुनाव करवाये गये। शेख मुजीब की आवामी लीग द्वारा बहुमत से अधिक सीटें प्राप्त करने पर भी सत्ता नही सौंपी गई तो पूर्वी पाकिस्तान और अब बांगला देश ने प० पाकिस्तान के अत्याचार भेदभाव और नर-संहार के विरुद्ध आंदोलन छेड़ दिया। पर मिला क्या ? केवल मात्र उनका दमन किया गया। लाखों बेगुनाह लोगो को मौत के घाट उतार दिया गया। स्वायत्तता के बदले वहाँ जन-संहार किया गया। वहाँ की मुक्ति-वाहिनी सेना ने आन्दोलन मे सक्रिय भाग लिया।

भारत और बंगला देश—भारत अपने द्वार पर यह सब कुछ होता न देख सका और मानवता को बचाने के लिए उपाय करने प्रारम्भ कर दिये। U.N.O. जो शान्ति स्थापित करने वाली संस्था है वह भी मौन साध कर बैठ गई। बड़ी शक्तियों ने अपने हित को लेकर प० पाकिस्तान के इस मामले को घरेलू मामला बताया। रूस ने बंगला देश का पक्ष लिया। प. पाकिस्तान ने बौखला कर 3 दिसम्बर 1971 को भारत पर अचानक हवाई हमले कर दिये। पर सौभाग्य की बात है कि युद्ध मे विजयी श्री भारत को मिली। 16 दिसम्बर की शाम ढाका को पाकिस्तानी सेना से खाली करवा लिया। जनरल नियाजी ने आत्म-समर्पण कर दिया। भारत के पास एक लाख के लगभग युद्ध-बन्दी पकड़े गये। 17 दिसम्बर को एकपक्षीय युद्ध विराम स्वीकार कर लिया गया।

भारत व रूस संधि—भारत ने 9 अगस्त 1971 को रूस से एक 20 वर्षीय पारस्परिक सहायता संधि की। जिसकी अवधि समाप्ति के बाद दोनों पक्षों की सहमति से 5-5 वर्ष के लिए और बढ़ाया जा सकेगा। इस संधि को लेकर भारत की विदेश-नीति की असंलग्नता की नीति की कटु-आलोचना की गई पर वास्तव मे संधि के प्रावधानों को ध्यान मे देखा जाये तो ज्ञात होगा कि इससे भारतीयों के हितों

को कोई ठेस नही पहुंचती है । देश के अधिकांश नेताओं ने संधि का स्वागत किया । संधि के अनुसार दोनों देश एक दूसरे पर आक्रमण नही करेंगे । एक देश पर आक्रमण होने की स्थिति में दोनों देश मिलकर उसके मुकाबले के लिए विचार-विमर्श करेंगे ।

महत्ता—इस संधि की दोनों देशों के लिए महत्ता है । रूस के पास विशाल भू-भाग है और तकनीकी ज्ञान व नवीनतम अस्त्र-शस्त्र हैं परन्तु जन-संख्या की कमी है । वह विश्व के अधिक जन-संख्या वाले देश को अपने पक्ष मे करना चाहता है । चीन से उसका सैद्धांतिक मतभेद है उसके बाद भारत का नम्बर आता है । इस प्रकार रूस ने विशाल जन-संख्या वाले देश को अपने पक्ष मे कर लिया ।

भारत के पास जनसख्या तो अधिक है परन्तु विकास-शील देश होने के कारण तकनीकी ज्ञान का अभाव है जिसकी पूर्ति रूस मे कर सकता है । पाकिस्तान यदि अमेरिका को अपना हिमायती बताता है तो भारत भी रूस को अपना मित्र कह सकता है । और रूस ने U. N. O मे बंगला देश मे शांति-स्थापित करने से संबधित मतदान में भारत का पक्ष भी लिया । इस तरह मे रूस से भारत की सधि विदेश-नीति की गतिशीलता एव सफलता को परिचायक है । इससे विदेश-नीति मे कुछ सुधार और हुआ भविष्य मे सफल संचालन की आशावदी ।

शिमला शिखर वार्ता – भारत और पाकिस्तान के बीच बढते हुए तनाव को समाप्त करने के लिए भारत द्वारा शिमला मे एक शिखर वार्त्ता का आयोजन किया गया । इससे पूर्व मरी में प्रधानमंत्री के विशेष दूत डी पी धर पाकिस्तान के राष्ट्रपति-जुल्फिकार अली भुट्टो से वार्ता कर चुके थे ।

यह शिखर वार्ता 29 जून से 1 जुलाई 1972 तक (चार दिन तक) चली । दोनों पक्षो ने वार्ता द्वारा तय किया कि एशिया मे शाति स्थापित करने के लिए दोनों देश (भारत-पाक) मिलकर प्रयास करेंगे । कश्मीर मे चिकननेक से भारतीय सेना और अन्य स्थानों मे दोनो देश की सेनायें पूर्व स्थिति को लौट आयेंगी । सचार एवं यातायात के मार्गों को खुला करने के लिए दोनो देशो के प्रतिनिधि-मण्डल आपस मे मिलते रहेंगे । भुट्टो ने श्रीमती गाधी को पाकिस्तान आने का निमत्रण दिया जिससे सभव है कि दोनों देशों के मध्य सम्बन्ध अधिक मधुर हों ।

संक्षेप मे, 1970 मे भारतीय राजनीति और विदेश-नीति मे महत्वपूर्ण मोड़ आये जिन्होने देश को दृढता, सफलता व आत्मविश्वास प्रदान किया । विकासशील देशो मे भारत सबसे आगे है । ऐसी आशा की जाती है कि अगामी कुछ वर्षों मे एशिया का विश्व मे नेतृत्व भारत करेगा जो कि भारतीय-शासन व राजनीति की सफलता होगी ।
